ओ३म्

आर्य समाज
का
अतीत और वर्तमान

स्थापना शताब्दी के उपलक्ष्य में प्रकाशित
भारतीय पुनर्जागरण के महान् आन्दोलन
की उपलब्धियों तथा सामयिक
स्थिति का मूल्यांकन

लेखक
डा० भवानीलाल भारतीय
एम. ए. पी. एच. डी.
संयुक्त मंत्री, परोपकारिणी सभा, अजमेर

प्रकाशक
आर्य प्रकाशन
प्रकाशक तथा पुस्तक बिक्रेता,
814 कूण्डे वालान, अजमेरी गेट दिल्ली।

वि. २०३२ मूल्य १-५०

भूमिका

भारतीय पुनर्जागरण का महा आन्दोलन आर्यसमाज अपने जीवन के सौ वर्ष समाप्त कर अपनी प्रगति तथा उन्नति के द्वितीय चरण में प्रविष्ट हो रहा है। इस संक्रमणकालीन वेला में यह आवश्यक है कि आर्यसमाज के अनुयायी और उसके प्रति सहानुभूति रखने वाले महानुभाव क्षण भर रुककर इस महत्त्वपूर्ण संस्था के उज्जवल अतीत पर दृष्टिपात करें तथा साथ ही वर्तमान में उपस्थित कुछ समस्याओं की ओर भी ध्यान दें। व्यक्ति की ही भांति संस्थाओं के लिये भी आत्मनिरीक्षण की आवश्यकता सदा ही रहती है। इसी दृष्टिकोण से इस पुस्तक में आर्यसमाज की सार्वत्रिक उपलब्धियों का विशद विवेचन करते हुये उसके वर्तमान कार्यक्रमों तथा प्रवृत्तियों की समीक्षा की गई है। आशा है पाठक पूर्वाग्रह मुक्त दृष्टि से इसका अध्ययन करेंगे।

दयानन्द आश्रम, अजमेर —भवानीलाल भारतीय।

प्रकाशकीय

आर्यसमाज स्थापना शताब्दी के शुभ अवसर पर भवानीलाल जी भारती की यह लेख माला प्रकाशित करते हुए हमे प्रसन्नता हो रही है। आशा है आर्य जन इस पुस्तक का स्वागत करेंगे साथ ही कविरत्न प्रकाश जी की विशेष कविता इसी समय पर लिखी गई पुस्तक की शोभा बढ़ा रही है।

प्रकाशक

अध्याय—१

आर्य समाज स्थापना की पृष्ठ भूमि

आवश्यकता आविष्कार की जननी है। उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, तथा आर्यसमाज जैसे महान् आन्दोलनों का जन्म लेना उस समय की आवश्यक परिस्थितियों का ही परिणाम था। यूरोपीय जातियों, विशेषतः अंग्रेजी शासन के सम्पर्क ने भारतवासियों में हीन भावना जाग्रत की। पश्चिमी राष्ट्रों के भौतिकवादी दृष्टिकोण तथा उनकी लौकिक समृद्धि ने दीन, हीन, पराधीन भारतीयों को दिग्मूढ़-सा बना दिया। वे अपने गौरवशाली अतीत, धर्म, परम्परा एवं संस्कृति के प्रति अनास्थावान् बन बैठे तथा अंग्रेजी जीवन प्रणाली के अनुकरण में ही अपने आपको कृतकृत्य समझने लगे। मैकाले द्वारा निर्धारित शिक्षा प्रणाली ने ही भारतीयों के स्वात्मबोध को और भी नष्ट कर दिया। जिस शिक्षा का लक्ष्य ही एक ऐसा वर्ग उत्पन्न करना था जो रंग और आकृति में चाहे भारतीय हों परन्तु आचार, विचार, बुद्धि और मन से अंग्रेज हों, उससे अधिक आशा करना व्यर्थ ही था। ब्रिटिश साम्राज्य का दमनचक्र अपनी सीमातीत क्रूरता एवं निर्ममता से भारतवासियों के गौरव, अभिमान एवं मर्यादा को कुचल रहा था।

शासन के अतिरिक्त हिन्दू समाज का उन्मूलन करने में दो अन्य शक्तियाँ भी लगी हुई थीं। शताब्दियों तक के मुस्लिम शासन ने भारतवासी मुसलमानों के दिल में यह बात दृढ़ता से जमा दी थी कि वे शासक वर्ग के लोग हैं और हिन्दुओं को प्रकृति ने उनके द्वारा शासित होने के लिये ही उत्पन्न किया है। अब अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् यद्यपि मुसलमानों के इस अहंभाव की समाप्ति हो चुकी थी कि अब भी वे शासन यन्त्र के पुर्जे हैं, तथापि ईसाई

शासकों को भी सैमेटिक मतानुयायी होने के कारण मुसलमान लोग हिन्दुओं की अपेक्षा अपने अधिक निकट समझते थे। मुसलमानों की यह धारणा थी तथा पर्याप्त सत्य धारणा थी कि अंग्रेज हिन्दुओं की अपेक्षा हमें अधिक प्रश्रय देंगे, हमें अपने गले का हार बनायेंगे क्योंकि इस्लाम और ईसाइयत की मत परम्परा का श्रोत एक ही सैमेटिक यहूदी धर्म है। इसी प्रकार अंग्रेज शासक भी अपनी भेद उत्पन्न करने वाली कूटनीति को सफल बनाने की दृष्टि से मुसलमान-वर्ग पर अपनी अशेष कृपा वृष्टि करते थे तथा ऐसा दिखाते थे मानो भारत के भूतपूर्व शासक होने के कारण वे वर्तमान शासकों के अधिक कृपापात्र हैं। अंग्रेजों द्वारा प्रदत्त उसी मौन और मूक आश्वासन ने मुसलमान वर्ग के लोगों को हिन्दुओं के प्रति विरुद्ध भाव रखने की प्रेरणा दी। अब तक तो वे औरंगजेबी शासन काल में तथा उससे पहले तलवार के बल पर हिन्दू धर्म को समाप्त करने की चेष्टा में रहे थे, परन्तु अब. ऊपरी तौर पर ही सही, न्याय और व्यवस्था का राज्य कायम होने पर तथा अंग्रेजी राज्य की धर्म-निरपेक्ष नीति की घोषणा होने पर उन्होंने हिन्दू धर्म पर किये जाने वाले हमलों का रूप बदल दिया। अब इस्लाम के मुल्ला और मौलवी, फकीर और प्रचारक हिन्दू धर्म की संकीर्णता एवं क्षुद्रता, उनमें व्याप्त मूढ़ विश्वासों और कदाचारों का उपहास करने लगे तथा वाणी और लेख से हिन्दू धर्म की कटुतम आलोचना उनके सामान्य कार्य व्यापार की वस्तु बन गई। मध्यकालीन युग में तथा-कथित हिन्दू धर्म भी अपनी प्राक्कालीन विशुद्धता को खोकर अनेक मूढ़ विश्वासों, कर्मकाण्डों, रूढ़ियों एवं मिथ्याचारों का एक ऐसा मिश्रण बन गया था, जिसकी आलोचना करना प्रत्येक विधर्मी के लिये अत्यन्त सहज था।

इसी प्रकार ईसाई प्रचारक भी अंग्रेजों के दृढ़ता से जम जाने के पश्चात् सक्रिय हो गये। यों दक्षिण भारत में तो ईसाई प्रचारकों का आगमन कई शताब्दियों पूर्व ही हो गया था। पुनः पुर्तगीज

शासन के प्रभुत्व सम्पन्न होने पर उन्होंने पुर्तगाली बस्तियों में हिन्दू जनता पर अशेष अत्याचार किये जिनके उदाहरण आज भी 'गोवा इन्क्वीजिशन' के रूप में मिलते हैं। अब उत्तर भारत में भी गोरी जाति का साम्राज्य स्थापित हो गया तो ईसाई प्रचारकों की गतिविधियों ने अखिल भारतीय रूप धारण कर लिया। बंगाल इन ईसाई मिशनों का केन्द्र था। श्रीरामपुर में मिशन प्रेस की स्थापना हुई। बाइबिल के भारतीय भाषाओं में अनुवाद हुये तथा अविश्वासियों को ईसा का विश्वासी बनाने का पुनीत कार्य आरम्भ हुआ। ईसाइयत का यह धक्का इस्लाम की तलवार से भी ज्यादा प्रभावशाली सिद्ध हुआ। ईसाई धर्म प्रचार के दो रूप थे। एक प्रणाली के अन्तर्गत शतशः वे मिश्नरी पादरी आते हैं जो जनजन में ईसाई विश्वासों के प्रति श्रद्धा जाग्रत करने के लिये नगर-नगर तथा ग्राम-ग्राम में व्यवस्थित रूप से कार्य कर रहे थे। ईसाई धर्म ग्रन्थों का वितरण करना, लोक भाषा में हिन्दू धर्म की आलोचना के व्याख्यान देना, यत्र-तत्र पण्डितों से शास्त्रीय वाद-विवाद करना आदि इनकी कार्यप्रणाली के आवश्यक अंग थे। परन्तु ईसाई प्रचार की एक अन्य परोक्ष प्रणाली भी थी। जो हिन्दू धर्म के लिये कहीं अधिक घातक सिद्ध हुई। यह थी मैक्समूलर, ग्रिफिथ, मोनियर विलियम्स आदि तथा कथित पाश्चात्य पण्डितों का भारतीय विद्या सम्बन्धी (Indology) अध्ययन तथा अनुसंधान। ये पाश्चात्य मनीषी विशुद्ध सरस्वती साधना की दृष्टि से संस्कृत तथा वैदिक साहित्य के अध्ययन में प्रवृत्त नहीं हुये थे। इनके द्विविध लक्ष्य थे—भारत में शासक बन कर जाने वाले अंग्रेज आई० सी० एस० अधिकारियों को भारत के सर्वाधिक व्यापक धर्म से परिचित कराना तथा हिन्दू शास्त्रों को पाश्चात्य नीति रीति की अपेक्षा हीनतर, कुत्सित, मिथ्या एवं निकृष्ट सिद्ध करना। यहाँ इस विषय का विस्तार करने का अवकाश नहीं है क्योंकि ऐसा करना प्रकृत विषय से दूर हटना होगा। विस्तार से जानने के इच्छुक पाठक पं० भगवद्दत्त जी द्वारा रचित

एक लघुपुस्तिका "Western Indologists : A study in Motives" पढ़ें।

ईसाई प्रचार का निश्चित एवं अपेक्षित परिणाम निकला। अत्यधिक भावुक प्रकृति के बंगाली, ईसाई मृगतृष्णा की ओर दौड़े। माइकेल मधुसूदनदत्त, पादरी लाल बिहारी डे, इण्डियन नेशनल कांग्रेस के प्रथम प्रधान कोमेशचन्द्र बनर्जी ये सभी उच्चकोटि के प्रतिभावान तथा मेधावी व्यक्ति अपने परम्परागत धर्म को त्याग कर गास्पेल के अनुयायी बन गये। नीलकण्ठ शास्त्री, स्वामी दयानन्द की शिष्या पण्डिता रमाबाई आदि का भी ईसाई कैम्प में चला जाना एक विडम्बना ही थी। यह बात नहीं कि ईसाई मत को अंगीकार करने वाले सभी लोग वास्तविक सत्यमत के जिज्ञासु ही थे और यह भी नहीं कि धर्मज्ञान की क्षुधा को तृप्त करने में ईसाइयत ही सक्षम थी, इनमें से अनेक लोग अपने सांसारिक क्षुद्रस्वार्थों की पूर्ति के लिये भी अपने परम्परागत धर्म को तिलाञ्जलि दे बैठे थे।

यह तो हुई बाह्य परिस्थितियों की चर्चा। हिन्दू समाज की आन्तरिक दशा भी कम शोचनीय नहीं थी। जैसा कि हमने ऊपर संकेत किया है हिन्दू धर्म अपने प्राकृत शुद्ध स्वरूप को नष्ट कर एक नये ही रूप में परिवर्तित हो चुका था। हम यह नहीं कहते कि कालजन्य परिस्थितयां, धर्म तथा मतविश्वासों को प्रभावित एवं प्रताडित नहीं करतीं। निश्चय ही संहिता प्रोक्त ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, स्मृति एवं रामायण महाभारतादि काव्यों में प्रतिपादित तथा इन ग्रन्थों से पौष्टिकता प्राप्त वैदिक धर्म मध्यकालीन राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के कारण अपने विशुद्ध रूप को नष्ट कर पुराण, तंत्र तथा लोकभाषाओं पर आश्रित हो चुका था, उसमें आर्येतर तत्वों का भी समावेश हो चुका था। बौद्ध, जैन तथा अन्य लोकायत मतों के विश्वासों का सम्मिश्रण उसमें हुआ। हीनयान, महायान, सहजयान, वज्रयान, तंत्रयान जैसे बीभत्स क्रियाकाण्डों से युक्त बौद्ध शाखाओं के शतशः क्रियाकलाप,

आचार एवं विश्वास उसमें सम्मिलित हो गये। कालान्तर में पुष्पित एवं पल्लवित शैव, शाक्त, वैष्णव, निर्गुण आदि विभिन्न साम्प्रदायिक प्रवृत्तियों ने भी भारत के परम्परागत वैदिक धर्म का रूप परिवर्तन करने में पर्याप्त योग दिया। अब इन सबका सम्मिलित रूप जो बना उसे स्वामी श्रद्धानन्द जी के शब्दों में 'चूं चूं का मुरब्बा' ही कहा जा सकता था, जिसमें परस्पर विरोध मतविश्वास, मूढ़ताजन्य कर्मकाण्ड एवं आडम्बर युक्त प्रपञ्चों के अतिरिक्त शुद्ध तथा सात्विक अंश की नितान्त न्यूनता थी। यह था उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का हिन्दू धर्म जिसकी परस्पर विरोधिनी विश्वास प्रक्रियाओं को रामकृष्ण विवेकानन्द टाइप के लोगों ने 'अनेकता में एकता' (Unity among diversity) जैसे न जाने कितने काव्यात्मक उपमान देकर गौरवान्वित करने की चेष्टा की है।

हिन्दू समाज भी जीर्ण, शीर्ण, शोषित एवं जर्जरित होकर मरणासन्न मूर्छा से ग्रस्त हो चुका था। जातिभेद, नारी वर्ग पर अत्याचार, दलित जातियों की करुणाजनक स्थिति, धर्म के नाम पर शतशः पाखण्डपूर्ण क्रियाकलाप आदि सभी कारण एकत्रित होकर हिन्दू समाज की आसन्न मृत्यु की घोषणा कर रहे थे। बाल विवाह, वृद्ध विवाह छूट अस्वीकार, दहेज आदि कुप्रथाओं ने समाज में विघटन का कार्य आरम्भ कर दिया था। ब्राह्मण ब्रह्मतेज से रहित, क्षत्रिय क्लीवता एवं दौर्बल्य पीड़ित वैश्य धनहीन एवं क्षुद्रस्वार्थों में रत शूद्र सर्वतोभावेन पतित हो चुके थे। साधु सन्यासियों का भी, जो हिन्दू समाज का अत्यधिक श्रद्धाभाजन एव विश्वासपात्र वर्ग था, अज्ञान एवं अहंकार से ग्रस्त होकर भंग, गांजा, शराब, अफीम जैसे मादक द्रव्यों का सेवन कर अपने पतन की पराकाष्ठा पर पहुंच चुका था। ब्राह्मणों और सन्यासियों ने ही जब अपने कर्तव्य को विस्मृत कर पापाचरण में प्रवृत्त होने का अपना लक्ष्य बना लिया तो शेष लोगों की तो कथा ही क्या? मोहमयी मदिरा को पीकर समग्र हिन्दू समाज अज्ञान की गहन तमिस्रा में अन्धे की नाईं भटक रहा

था । उसके तथाकथित मार्गदर्शक एवं नेता भी 'अंधेनैव नीयमाना यथान्धाः' की उक्ति को चरितार्थ करते हुये स्वयं तो पतन के गहरे गर्त में गिरते ही थे, अपने अनुयायियों को भी सर्वनाश और अधः पतन के गहन गह्वर में विश्राम लेने की प्रेरणा देते थे ।

यह है उन परिस्थितयों का संक्षिप्त आकलन जिन्हें हमने ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में उपस्थित करने का प्रयत्न किया है । अज्ञानान्धकार से परिपूरित इस गहन अमा की समाप्ति सन्निकट ही थी, और उस से उत्पन्न होने वाला था नवोदय का वह उषाकाल जिसका संदेश लेकर राम मोहनराय तथा दयानन्द जैसे ज्योतिर्धर इस धराधाम पर अवतीर्ण हुये ।

ईश्वर ने सृष्टि के आदि में दिव्य गुण वाले अग्नि वायु रवि और अंगिरा ऋषियों के द्वारा चारों वेदों के उपदेश से सब मनुष्यों के लिये विद्या प्राप्ति से सुख के लिये यज्ञ के अनुष्ठान के विधि का उपदेश किया है ।

—ऋषि दयानन्द भाष्य ।

अध्याय २

पुनरुत्थानवादी आंदोलनों का जन्म

बिगत अध्याय में हमने उस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य तथा वातावरण को प्रस्तुत करने की चेष्टा की है जो भारत में धार्मिक एवं सांस्कृतिक पुनर्जागरण के आन्दोलनों को पनपाने के लिए आवश्यक था। नव जागरण का शंख फूंकने वाले राजा राममोहन राय ने १८२८ में कलकत्ता नगर के जोडासांको (चितपुर रोड़) मुहल्ले में ब्राह्मसमाज की स्थापना की। वेद और उपनिषदों के एकेश्वरवाद तथा ब्रह्मवाद से प्रभावित राजा राममोहन राय ने हिन्दू धर्म की उपासना प्रणाली को पौत्तलिक उपासना की जड़ता से हटाकर विशुद्ध सच्चिदानन्द प्रज्ञानघन परमात्मा की मानसपूजा के रूप में प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की। सतीदाह जैसे हिन्दू जाति के अभिशाप रूपी मिथ्या विश्वास को दूर करने के लिए राजा ने जो शास्त्रीय एवं वैधानिक आधार प्रदान किया उसके लिए वे इतिहास में अमर रहेंगे। राममोहन राय का दृष्टिकोण मानवतावादी था। उनका अध्ययन और अनुभव विशाल था। भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त वे फारसी अरबी, अंग्रेजी, लैटिन, ग्रीक तथा हिब्रू आदि उन भाषाओं पर भी अधिकार रखते थे जो ईसाइयत तथा इस्लाम जैसे सामी मजहबों की अपनी भाषायें समझी जाती हैं। कुरान तथा बाइबिल का उन्होंने गहरा अध्ययन किया था। इस्लाम के एकेश्वरवाद से वे अत्यधिक प्रभावित हुए थे तथा ईसाइयत के विषय में उनकी कुछ निजी धारणायें थीं। राजा राममोहन राय ईसाई मत के आचार शास्त्र (Ethice) को बहुत उत्तम कोटि का मानते थे तथा उसे भारतवासियों के लिए अनुकरणीय तथा आचरणीय भी समझते थे। जहां तक ईसाइयत के धार्मिक मतवादों (Theological dogmas) का संबंध है राजा की मान्यता यह थी कि बाइबिल अपने विशुद्ध रूप में एके-

श्वरवाद (Unitarian) का प्रतिपादन करता है। उसमें ईसा रूपी पुत्र तथा पवित्र आत्मा के साथ त्रैतवादी (Trinity) विचारधारा का समर्थन कहीं नहीं मिलता।

रामोहन राय ने ब्राह्मसमाज के रूप में जिस सुधार और संस्कार के आंदोलन का बीज वपन किया था उसने महर्षि देवेन्द्रनाथ तथा केशवसेन के नेतृत्व में एक विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लिया। देवेन्द्रनाथ विशुद्ध भारतीयता के भक्त तथा पुरानी मान्यताओं को प्रोत्साहन देने के पक्षपाती थे। उनके ठीक विपरीत केशवचन्द्र ब्राह्म-समाज को पश्चिमी आदर्शों की ओर मोड़ना चाहते थे, ईसाइयत का रंग तो उन पर इतनी गहराई से चढ़ चुका था कि वे ब्राह्मसमाज को भी ईसाई मत का ही एक पृथक् चर्च का रूप दे देने के लिए उत्सुक थे। उनके कार्यकाल में ही ब्राह्मसमाज आंतरिक विग्रह का शिकार हुआ। आदि ब्राह्मसमाज तथा भारतवर्षीय ब्राह्मसमाज के रूप में उसके दो विभिन्न रूप लोगों के समक्ष आये तथा केशव ने अपने समाज को नवविधान (New Dispensation) का नाम दिया। केशव के अनुयायी प्रतापचंद्र मजूमदार आदि परवर्ती ब्राह्मों के आचार-विचार तथा उनकी मान्यतायें ईसाई सिद्धान्तों से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं थीं।

ब्राह्मसमाज का सुधार आंदोलन जिस समय अपने मध्यान्ह पर था, उसी समय सौराष्ट्र के एक अज्ञात से ग्राम ने एक दिव्य विभूति को जन्म दिया जो कालान्तर में दयानन्द सरस्वती के नाम से भूमं-डल में विख्यात हुआ। स्वामी दयानन्द का ब्राह्मसमाज तथा उसके नेताओं से निकट का परिचय था। अपने कलकत्ता प्रवास में स्वामी जी की भेंट महर्षिकल्प देवेन्द्रनाथ ठाकुर तथा आचार्य केशवचंद्र सेन से हुई। दोनों ब्राह्म नेताओं से उन्होंने अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार विमर्श भी किया था। जिस समय स्वामी दयानन्द बम्बई में विराजमान थे तथा उनके शिष्य, भक्त, अनुयायी तथा प्रशंसक एक ऐसी संस्था को जन्म देने की बात सोच रहे थे जो स्वामी जी की

विचारधारा का अनुगमन करते हुए देशोत्थान तथा समाज सेवा को अपना मुख्य लक्ष्य बनाये तथा वैदिक धर्म की पुन: स्थापना के लिए कृत संकल्प हो, उसी समय एक प्रस्ताव यह भी आया था कि इसी कार्य में संलग्न, पूर्व से ही संस्थापित ब्राह्मसमाज से ही सहयोग किया जाय। इस प्रस्ताव पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया, परन्तु निष्कर्ष यह निकला कि ब्राह्मसमाज तथा स्वामी दयानन्द के मूलभूत सिद्धान्तों में बहुत अधिक अन्तर है। स्वामी दयानन्द की वेद के प्रति अगाध निष्ठा थी। वे यह मानकर चलते थे कि भारत में सुधार एवं संस्कार के आंदोलन तब तक सफल नहीं हो सकते जब तक कि वैदिक धर्म को उसके पुरातन रूप में प्रतिष्ठित न कर दिया जाय। वेद के प्रति भारतवासियों की जो निष्ठा तथा श्रद्धा है वह किसी अन्ध विश्वास पर आधारित न होकर युक्ति एवं तर्कमूलक है। देश के प्राचीन और अर्वाचीन शतश: मत, सम्प्रदाय, आचार्य तथा धर्म संशोधक वेदों के प्रति अपनी आस्था की घोषणा करते हैं तथा उसे अपौरुषेय, ईश्वरप्रणीत फलत: स्वत: प्रमाण मानते हैं। राजनीतिज्ञ तथा साहित्यकार कन्हैयालाल मुन्शी के शब्दों में "अपनी भावुक अपील के लिए दयानन्द सरस्वती ने युगों की दृढ़ आधार शिला वेदों का आश्रय लिया।"

परन्तु ब्राह्मसमाज वेदों के प्रति इतना अधिक आस्थावान् तथा दृढ़ नहीं था। राममोहन राय ने वेद संहिताओं के प्रति अपनी भक्ति अवश्य दिखाई परन्तु उनका अध्ययन उपनिषदों तक ही सीमित था। देवेन्द्रनाथ भी उपनिषदों के अध्यात्मवाद से ही प्रभावित हुए। उन्होंने वेद चतुष्टय का अध्ययन करने के लिए अपने चार शिष्यों को विद्या की नगरी काशी में भेजा परन्तु सायण, उव्वट, महीधर आदि मध्यकालीन भाष्यकारों की परिपाटी का अनुसरण करने वाले काशी के वैदिक वर्ग से उन्होंने जो कुछ पढ़ा वह उनकी वेद के प्रति आस्था को समाप्त करने वाला सिद्ध हुआ। ऋग्वेद के मण्डूक सूक्त को पढ़कर वे इसी निष्कर्ष पर पहुंचे कि वैदिक संहिताओं में मेंढकों

की टर्र के अतिरिक्त और कुछ अधिक सारवान वस्तु नहीं है। केशव की दृष्टि में तो ईसाई शास्त्रों की तुलना में वैदिक शास्त्रों का कुछ अधिक मूल्य तथा महत्व नहीं था। यह वेद विषयक दृष्टिकोण ब्राह्म-समाज तथा स्वामी दयानन्द के बीच पर्याप्त अन्तर उत्पन्न कर रहा था। फलतः बम्बई के महामति रानडे. गोपाल राव, हरिदेशमुख सेवक लाल कृष्णदास आदि स्वामीजी के भक्त एक पृथक संगठन की स्थापना की सम्भावना पर विचार कर रहे थे। उनका यह विचार उस दिन मूर्त रूप धारण कर सका जिस दिन गिरगांव स्थित डा० मानकचन्द्र की वाटिका में आर्यसमाज की स्थापना हुई तथा उसके २८ नियमों की घोषणा की गई।

आज के अहम्मन्य, राजनीति के पंक में ग्रस्त, क्षुद्र प्रकृति के नेता नामधारी लोग आर्यसमाज तथा उसके प्रवर्तक पर साम्प्रदायिक होने का लांछन लगाते हैं। उनके विचारानुसार आर्यसमाज हिन्दू-पुनरुत्थानवादियों का एक संकीर्ण संगठन है जो प्रतिक्रियावादी तत्वों को प्रोत्साहित कर प्रगति के पथ को अवरुद्ध करना चाहता है। परन्तु इस मत में सत्यता का अंश अल्प मात्र भी नहीं है। स्वामी दयानन्द अपने समय के सबसे अधिक प्रगतिशील, प्राणवान तथा राष्ट्रभक्त महापुरुष थे। वैदिक धर्म और पुरातन आर्यसभ्यता की पुनःस्थापना का नारा उन्होंने अवश्य लगाया, परन्तु वे अपने समकालीन सभी प्रगतिशील तत्वों से तालमेल बैठाने के लिए सदा उत्सुक रहते थे। वैदिकेतर धर्मों तथा मतों के उदार धर्माचार्यों से उनका मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध था। जिस समय दिल्ली में स्वामी दयानन्द ने सर्व धर्म सम्मेलन का आयोजन किया और देश के सभी उदारमना नेताओं को उसमें भाग लेने के लिए निमन्त्रित किया तो उनके इस निमन्त्रण की अनुकूल प्रतिक्रिया हुई। पंजाब से मुन्शी कन्हैयालाल अलखधारी, बम्बई से श्री हरिश्चन्द्र, चिन्तामणि, पंजाब ब्राह्मसमाज के श्री नवीन चन्द्र राय, बंगाल से केशवसेन तथा मुसलमानों के सर्वसम्मत नेता सर सैयद अहमद उक्त सम्मेलन में सम्मिलित हुए। यदि स्वामी जी

का दृष्टिकोण अनुदार तथा संकीर्ण होता तो उनके निमन्त्रण की ऐसी अनुकूल प्रतिक्रिया नहीं होती। स्वामी दयानन्द एक ओर प्रो० मैक्समूलर तथा अध्यापक मोनियर विलियम्स जैसे पाश्चात्य मनीषियों से निकट सम्पर्क बनाये रखते थे, उसी भांति बरेली के रैवरैण्ड स्काट जैसे पादरी भी उनके भक्तों एवं प्रशंसकों में परिगणित होते थे।

आर्य समाज के संस्थापन की परिस्थितियों पर विचार करने के अनन्तर हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि यद्यपि ब्राह्मस ाज के रूप में नवोदय का उद्घोष हो चुका था, परन्तु ब्राह्मलोगों में राष्ट्रीय भावनाओं का जो अभाव था, उसमें स्वदेश भक्ति की जो न्यूनता थी, उसे देखते हुये एक ऐसे आन्दोलन की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी जो पूर्णतया राष्ट्रीयता की भावनाओं पर आधारित होने के साथ-साथ अपने में स्वदेशाभिमान स्वात्मबोध एवं राष्ट्रीय गौरव की भावनाओं की अभिवृद्धि कर सके। आर्यसमाज के द्वारा इसी लक्ष्य की पूर्ति हुई।

इस विवेचन में हम उन्नीसवीं शताब्दी के केवल दो सशक्त धर्मान्दोलनों की चर्चा कर सके हैं और वे हैं ब्राह्मसमाज तथा आर्यसमाज। ब्राह्मसमाज के विवेचन करने की आवश्यकता इसलिये हुई कि वह आर्यसमाज का पूर्ववर्ती आन्दोलन है। आर्यसमाज के परवर्ती थियोसोफिकल सोसाइटी तथा रामकृष्ण मिशन आदि का उल्लेख हमारे प्रकृत विषय की परिधि में नहीं आता क्योंकि आर्यसमाज ने उनको कुछ दिया ही है उनसे लिया कुछ भी नहीं, परन्तु अनेक बातों में ब्राह्मसमाज आर्यसमाज के लिये प्रेरणा और अनुकरण की वस्तु रहा है। अस्तु।

आर्यसमाज और ब्राह्मसमाज की सापेक्षिक सफलता पर जब हम विचार करते हैं तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि आर्यसमाज का देश के जनमानस पर व्यापक और स्थायी प्रभाव पड़ा है। इसका मूल कारण है आर्यसमाज की समस्याओं के प्रति राष्ट्रीय दृष्टि आर्यसमाज

न अपने संगठन तथा सिद्धान्तों को सार्वभौम और सार्वकालिक मानते हुये भी अपने राष्ट्रीय दृष्टिकोण को कभी ओझल नहीं होने दिया। फलतः स्वदेश, स्वधर्म तथा स्वभाव की अर्चना में वह अपनी आन्तरिक निष्ठा के साथ लगा रहा। इसके विपरीत ब्राह्मसमाज ने विदेश में उत्पन्न, पल्लवित, एवं पुष्पित ईसाई मत के मतों, इतिहासों एवं आचारों को अपना आदर्श बनाया, फलतः कालान्तर में वह एक अहिन्दू संगठन के रूप में शंका की दृष्टि से देखा जाने लगा, आर्यसमाज ने अपने संस्थापक के जीवन काल में तथा उसके पश्चात् धर्म, समाज शिक्षा तथा जीवन के अन्य क्षेत्रों में जो उपलब्धियाँ प्राप्त कीं उनका संक्षिप्त आकलन हम आगे करेंगे।

अन्य पठनीय सामग्री —

(१) राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन दयानन्द लेखक गंगाप्रसाद उपाध्याय।

(२) Ram Mohon to Ram Krishna by F. Maxmuller.

(३) Life of Ram Krishana का Builders of unity शीर्षक अध्याय लेखक—रौमां-रौलां।

(४) महर्षि दयानन्द तथा राजा राममोहनराय लेखक भवानीलाल भारतीय।

(५) Modern Religious Movements by j N. Farquhar.

अध्याय—३

धार्मिक क्षेत्र में आर्यसमाज की उपलब्धियाँ

आर्यसमाज ने संसार की धार्मिक विचारधारा का किस प्रकार नेतृत्व किया है तथा उसको क्या देन दी है इसका सम्यक् विवेचन यद्यपि नहीं हुआ है। हम संक्षेप में यह विचार करेंगे कि आर्यसमाज का धार्मिक क्षेत्र में क्या योगदान रहा है। आर्यसमाज के संस्थापक उन अगणित धर्म संशोधकों की श्रेणी में आते हैं जिन्होंने समय-समय पर जन्म लेकर धर्म के क्षेत्र में व्याप्त विकृतियों को दूर करने का यत्न किया। बुद्ध, शंकर, रामानुज, कबीर, राममोहन आदि महापुरुष धर्म के क्षेत्र में अवतीर्ण होकर धार्मिक क्राँति का सूत्रपात् करते रहे हैं। दयानन्द की धार्मिक क्रांति की कुछ अपनी विशेषताएँ थीं जिन पर हमें विचार करना है।

दयानन्द ने धर्म का मूलाधार वेद को बताया। उनका यह कथन कोई मनगढ़ंत या कपोल कल्पित सिद्धाँत नहीं था। प्राचीन भारतीय विचारक और शास्त्रकार भी उनके इस मन्तव्य से पूर्णतया सहमत हैं। मनु ने वेद को अखिल धर्म का मूल बताया है। वैदिक धर्म का मूल स्रोत ऋग्वेदादि चार मंत्र संहिताएँ हैं जो ईश्वर का अनादि ज्ञान होने से स्वतः प्रमाण मानी गई हैं। दयानन्द ने इस संहिता प्रमाणवाद को एक बार फिर बलपूर्वक प्रतिपादित किया। यह बात नहीं कि भारत के धार्मिक चिंतन क्षेत्र में कभी भी वेद की अव-गणना या अवमूल्यन हुआ हो। सभी प्राचीन, अर्वाचीन तथा मध्य-कालीन धर्मशास्त्र लेखक तथा दार्शनिक चिंतक इस बात से सहमत रहे हैं कि वेद प्रतिपादित धर्म ही वास्तविक धर्म है तथा तद् विरुद्ध बात किसी भी प्रकार आर्यसमाज के लिए ग्राह्य नहीं मानी जा सकती। परन्तु यह वेद प्रमाणवाद व्यावहारिक क्षेत्र में बहुत कम व्यापकता ग्रहण कर सका। साम्प्रदायिक लोग वेद प्रमाण को

सिद्धाँत: स्वीकार करते हुए भी अपने आचरण और व्यवहार में वेद विरुद्ध मतवाद के अनुकूल आचरण करते थे। दयानन्द ने वेद के इस प्रमाणवाद को एक बार पुन: कट्टरता से प्रस्तुत किया। उन्होंने मूर्तिपूजा, अवतारवाद मृतक श्राद्ध आदि शतश: साम्प्रदायिक रूढ़ियों पर जो निर्मम आक्रमण किया वह इसी आधार पर था कि इन मिथ्या विश्वासों के पीछे वेद का कोई पुष्ट प्रमाण नहीं था। काशी में जिस समय वे विशुद्धानन्द, बाल शास्त्री आदि से शास्त्रार्थ करने को सन्नद्ध होते हैं उस समय पौराणिक पण्डितों का उनके समक्ष आने में संकोच का एक प्रमुख कारण यह भी था कि दयानन्द यह चाहते थे कि काशी के पण्डितगण मूर्तिपूजा को वैदिक प्रमाणों से सिद्ध करें और पौराणिक पण्डित मूर्तिपूजा को एक शिष्टाचार मानते हुए उसके समर्थन में वेद का कोई प्रमाण नहीं जुटा पाते थे। दयानन्द का यह वेद प्रमाणबाद पौराणिक पण्डितों को इसलिए मान्य नहीं था कि वे मन्त्र संहिताओं के अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थों को भी वेद की संज्ञा देते थे तथा पाश्चात्य पण्डित भी दयानन्द के वेद प्रमाण के सिद्धाँत से सहमत नहीं थे। उनकी दृष्टि में वेद की प्रामाणिकता पर इतना अधिक जोर देना अनावश्यक था। कुछ भी हो, धर्म के क्षेत्र में वेद के लुप्त प्राय: महत्त्व को पुन: उद्घोषित करना दयातन्द की एक प्रमुख विशेषता थी।

वेद प्रमाणवाद के साथ-साथ दयानन्द ने आर्ष ग्रन्थ प्रमाण के सिद्धांत को भी पुनरुज्जीवित किया, इसके लिए उन्हें अपने सुगृहीत नामधेय गुरुस्वामी विरजानन्द जी से प्रेरणा मिली। विरजानन्द ने अपनी प्रज्ञा के बल पर यह मंत्र सिद्ध किया कि वेद के पश्चात उन्हीं ग्रन्थों को प्रमाणिक माना जाना चाहिये जो दृष्टा तथा साक्षात्कृत-धर्मा ऋषियों द्वारा निर्मित हैं। उनके कथनानुसार आर्ष ग्रन्थों में युक्ति, तर्क एवं विज्ञान तथा सृष्टि क्रम के विरुद्ध कुछ भी नहीं होता। आर्ष ग्रन्थों में जो कुछ होता है वह सर्वथा युक्ति संगत तथा मानव मात्र का हितकारी पथ्य युक्त ही होता है? आर्ष ग्रन्थ प्रमाणवाद की इस कसौटी के द्वारा ही दयानन्द पुराण, तन्त्र तथा अन्यान्य शतश:

उन ग्रन्थों का खण्डन कर सके जिन्होंने अपने वेद, युक्ति तथा विज्ञान विरुद्ध सिद्धांतों से जन मानस को दूषित कर रक्खा था। यदि दयानन्द के हाथ में आर्ष ग्रन्थ प्रमाणवाद का यह आयुध नहीं होता तो वे मध्यकालीन धर्माडम्बर को छिन्न-भिन्न कर वैदिक धर्म के सूर्य को पुनः उद्भासित करने में सफल नहीं होते। स्वामी जी के सुप्रसिद्ध जीवनी लेखक देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने अपने ग्रन्थ की भूमिका में उनके इस सिद्धान्त की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

धर्म में बुद्धिवाद को समाविष्ट करना दयानन्द की एक और विशेषता थी। वस्तुतः धर्म बुद्धिवाद का ही पर्याय है। यदि उसमें युक्तिवाद को (Rationality) का समावेश नहीं है तो वह मिथ्या विश्वासों का एक समूह मात्र है। वैदिक धर्म ने तर्क का कभी तिरस्कार नहीं किया। मनु के अनुसार धर्म को वही जान सकता है जो तर्क के द्वारा उसका अनुसंधान करता है। निरुक्त के रचिता महर्षि यास्क तर्क को ऋषि का दर्जा प्रदान करते हैं। वैशेषिक दर्शन के प्रणेता भगवान् कणाद वेदों की रचना बुद्धिपूर्वक हुई मानते हैं। तर्क और युक्ति का यह महत्त्व धर्म के क्षेत्र से धीरे-धीरे लुप्त हो गया। उसका स्थान श्रद्धा और विश्वासों ने ले लिया। कालान्तर में यह श्रद्धा अन्ध श्रद्धा मात्र रह गई और विश्वासों ने जड़ता को अपना लिया। दयानन्द ने बलपूर्वक घोषणा की कि वास्तविक धर्म वही है जो तर्क के प्रहारों को सहन कर सके तथा युक्ति की आधार शिला पर खड़ा हो। उन्होंने सत्य असत्य की परीक्षा के लिए जो पाँच कसौटियां निर्धारित की हैं उनमें जहां वेद, आप्त वाक्य, तथा आत्मा के अनुकूल होना सत्य का लक्षण बताया है वहां सत्य को सृष्टि नियमों अविरुद्ध तथा प्रत्यक्षादि आठ प्रमाणों से सिद्ध होने वाला भी माना है। आर्यसमाज के इस प्रखर बुद्धिवाद ने धर्म के संशोधन में बहुत महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। अन्य मत सम्प्रदायों के लोग भी आर्यसमाज की आलोचना से भयभीत होकर अपने मत विश्वासों को बुद्धि के अविरुद्ध बनाने की चेष्टा करते रहे हैं।

अध्याय — ४

समाजसुधार के क्षेत्र में आर्यसमाज का योगदान

इतिहास के अध्येताओं ने आर्यसमाज का उल्लेख समाज सुधार के क्षेत्र में कार्य करने वाली प्रमुख संस्था के रूप में किया है। आर्य-समाज के संस्थापक की दृष्टि धार्मिक क्षेत्र के साथ-साथ समाज के क्षेत्र में भी व्यापक तथा क्रान्तिकारी परिवर्तन करने की थी। अत: दयानन्द को समाज संशोधकों की पंक्ति में शीर्ष स्थान देने में हमें किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए। गत सौ वर्षों के भारत के सामाजिक जीवन में जो कुछ परिवर्तन और संशोधन हुये हैं, उन्हें लाने में आर्यसमाज की भूमिका महत्वपूर्ण रही है।

आर्यसमाज द्वारा चलाये गये सुधार कार्यों का ठीक २ मूल्यांकन अभी होना शेष है। आर्यसमाज के सुधार आन्दोलन ने उत्तर भारत के जनमानस को किस प्रकार और कहां तक प्रभावित किया, इसका ठीक-ठीक अध्ययन और अनुमान तो कोई समाज शास्त्री ही कर सकता है। स्वामी दयानन्द ने सर्वप्रथम बाल विवाह और अनमेल विवाह के विरुद्ध आवाज उठाई। उन्होंने अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थ-प्रकाश में पराशरस्मृति के "अष्टवर्षा भवेद् गौरी" आदि वचनों की कटु समालोचना करते हुये बाल-विवाह को देश के बल, वीर्य, पौरुष एवं पराक्रम का ह्रास करने वाला सिद्ध किया। दीवान बहादुर हरविलास शारदा ने उस समय की केन्द्रीय एसेम्बली में बाल-विवाह निरोधक कानून पेश किया और उसे शारदा एक्ट के नाम से पारित करवाया। यह सत्य है कि आज भी अशिक्षित जन-समाज में बाल-विवाह प्रचलित हैं, परन्तु मध्यम तथा उच्च वर्ग में यह कुरूढ़ि समाप्त हो गई है। इसी प्रकार विधवा विवाह का समर्थन, दहेज आदि के विरुद्ध प्रबल जनमत का निर्माण, अन्तर्जा-

तीय विवाहों को प्रोत्साहन आदि के कार्यों को आर्यसमाज का सदा सक्रिय समर्थन मिलता रहा।

हिन्दू समाज के जीर्ण शीर्ण ढांचे को पुनर्गठित करने के लिये आर्यसमाज ने वर्णाश्रम व्यवस्था को वैज्ञानिक आधार प्रदान कर उसे युगानुकूल सिद्ध किया। यद्यपि हिन्दू समाज विगत सहस्राब्दियों से मिथ्या जात पांत के जिस वात्याचक्र में फंस चुका था, उससे मुक्त होने के लक्षण अभी तक दिखलाई नहीं दे रहे हैं, स्वयं आर्यसमाज के धार्मिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों में आस्था रखने वाले नेता विद्वान् तथा उपदेशक भी अपनी जन्म गत जाति के केंचुली से अपने को पृथक कर एक आर्य बिरादरी बनाने में अभी तक सफल नहीं हो सके हैं, फिर भी यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि आर्यसमाज ने शास्त्रीय आधार पर वर्णगत और जातिगत वैषम्य को दूर करने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया है। जात पांत के मिथ्याडम्बर को ध्वस्त करने में चाहे आर्यसमाज को सफलता न मिली हो, परन्तु यह तो उसके आलोचक भी स्वीकार करेंगे कि हिन्दू समाज में व्याप्त स्पृश्यास्पृश्य (छुआछूत) के अभिशाप को दूर करने और तथा-कथित दलित एवं अछूत जातियों की दशा को सुधारने तथा उन्हें अन्यान्य उच्चवर्णीय लोगों के समान स्तर पर लाने में आर्यसमाज ने जो कुछ किया है, व श्लाघनीय है। स्वयं महात्मा गांधी ने ऋषि दयानन्द की निर्वाण अर्ध शताब्दि पर यरवदा जेल से प्रेषित अपने संदेश में इस तथ्य को इस प्रकार स्वीकार किया है — "Among the many rish legacies that Swami Dayanand has left to us, his unequivocal pronouncement against untouchability is undoubtedly One" (दीवान बहादुर हरविलास शारदा के नाम प्रेषित पत्र जो Dayanand Commemoration Voume में छपा है)।

आर्यसमाज द्वारा किये गये अछूतोद्धार के इस कार्य को व्यापक परिप्रेक्ष्य में समझने के लिये हमें पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के इति-हास के पन्ने उलटने होंगे। मेघ, ओड़, रहतिये आदि दलित जातियों

उठाने में आर्यों को किन-किन कष्टों का सामना करना पड़ा तथा उन्हें सामाजिक बहिष्कार आदि अत्याचारों को झेलना पड़ा इन सबकी तो कथा ही पृथक् है। इस कार्य में आर्यसमाज के कई कार्यकर्ता शहीद हुये तथा अनेक दारुण यातनाओं की चक्की में पीसे गये। महाशय सोमनाथ जी की मृत माता की अन्त्येष्टि में उनके साजातीय बन्धुओं ने सम्मिलित तक होने से इसीलिये इन्कार कर दिया था, क्योंकि उक्त महाशय जी दलितोद्धार के कार्य में समाज की परवाह न कर जी जान से जुटे थे। यह सत्य है कि दलितोद्धार का यह कार्यक्रम कालान्तर में महात्मा गांधी का संरक्षण तथा कांग्रेस का बल पाकर एक नई दिशा प्राप्त कर सका, फलत: देश के स्वाधीन हो जाने पर अस्पृश्यता को कानूनन अपराध मान लिया गया और आज की नई पीढ़ी को तो यह पता तक नहीं चलने दिया जाता कि इस क्षेत्र में आर्यसमाज ने भी बहुत कुछ महत्वपूर्ण कार्य किया है। राजनैतिक लोग ही इस सुधार का सारा श्रेय लेने लग गये हैं। आज अनुसूचित जातियों के संरक्षण के नाम पर उन्हें जो सुविधायें दी जाती हैं तथा वोटों को प्राप्त करने के लिये उन्हें उसी रूप में रखने की जो चेष्टायें हो रही हैं उसे देखते हुये बहुत कम लोग इस बात को समझ पायेंगे कि आर्यसमाज ने इन्हीं भंगी, चमार आदि अन्त्यज जातियों को समाज, शिक्षा तथा अन्य क्षेत्रों में बराबर के अधिकार प्रदान किय थे। आर्यसमाज की गुरुकुल जैसी शिक्षण संस्थाओं में सैकड़ों दतिल वर्ग के युवकों ने उच्च धार्मिक शिक्षा ग्रहण की, द्विजों की भांति यज्ञोपवीत ग्रहण कर पण्डित और पुरोहित बने तथा शिक्षा और संस्कार से अपने को उन्नत बनाकर। बृहत्तर आर्य हिन्दू समाज में अपने को पूर्णत: घुला मिला लिया।

नारी शिक्षण तथा नारी जागरण के कार्य में भी आर्यसमाज ने अग्रदूत का कार्य किया है। मध्यकालीन धर्मचितन ने नारी को अत्यन्त उपेक्षित, घृणित तथा तिरस्करणीय बना रखा था। उसे अत्याचार, तिरस्कार तथा उपेक्षा के भंवरजाल से निकाल कर

उसके वास्तविक गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित करने में आर्यसमाज को अपूर्व सफलता मिली। हिन्दी के उपन्यास गुरु प्रेमचन्द ने एक बार वार्तालाप के प्रसंग में अपनी पत्नी श्रीमती शिवरानी देवी को कहा था कि भारतीय नारियों को अपने अभ्युत्थान के लिये स्वामी दयानन्द का चिर कृतज्ञ होना चाहिये। (प्रेमचन्द घर में) भारत के मध्यकालीन धर्माचार्यों ने, जिनमें शंकर, रामानुज जैसे दार्शनिक तथा कबीर, दादू जैसे स्वतन्त्र संत विचारक भी आ जाते हैं, नारी के प्रति वैसी उदारता नहीं दिखलाई जैसी दयानन्द जैसे महामना महापुरुष ने प्रदर्शित की जो शंकर तथा रामानुज से भी अधिक शास्त्रीय परम्पराओं का दृढ़ पोषक तथा कबीर आदि संतों से भी अधिक उदार और स्वतन्त्र प्रकृति का था।

यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि सुधार के क्षेत्र में जिस लक्ष्य को सम्मुख रख कर आर्यसमाज ने कार्य आरम्भ किया, उसमें उसे पूर्ण सफलता प्राप्त हो गई है, फिर भी निष्पक्ष दृष्टि से विचार करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि साधारण लोगों के दृष्टिकोण को परिवर्तित करने में आर्यसमाज के सुधार आन्दोलन का भी महत्वपूर्ण हाथ रहा है। आज भी सामाजिक वैषम्य समाप्त नहीं हो पाया है, जात पांत के दलदल से निकल कर हिन्दू समाज अपने आपको सुसंगठित इकाई के रूप में प्रस्तुत नहीं कर सका है। फिर भी आर्यसमाज ने इस क्षेत्र में जो कुछ किया है उसका महत्व सुस्थिर है। आज परिस्थितियाँ परिवर्तित हो चुकी हैं। आज से पचास वर्ष पूर्व अछूतोद्धार तथा नारी शिक्षा के लिये आर्यसमाज को जहाँ, शास्त्रार्थ, उपदेश और बहस मुबाहिसे की आवश्यकता पड़ती थी, आज वही कार्य जन शिक्षा के प्रचार तथा शासन सत्ता के दबाव से स्वयमेव हो रहा है। (तथाकथित सनातनधर्मी भी शिक्षा के क्षेत्र में आ चुके हैं तथा अछूतोद्धार को भी उन्होंने स्वीकार कर लिया है)। फिर हम समाज सुधार के कार्य में आर्यसमाज के योगदान की अवगणना और उसके महत्व का अवमूल्यन किस प्रकार कर सकते हैं ?

अध्याय—५

आर्यसमाज और राष्ट्रीयता

आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द अपने समकालीन एवं समानधर्मा अन्य धर्माचार्यों से अनेक बातों में पूर्णतया भिन्न थे। उच्चकोटि के संस्कृतज्ञ विद्वान् सर्व संग परित्यागी परिव्राट, महान धर्म संशोधक और क्रान्तिकारी समाज सुधारक होने के साथ २ उन में अपने राष्ट्र के प्रति अगाध निष्ठा एवं भक्ति भी थी। यही कारण है कि वे अपने से पूर्ववर्ती शंकर, रामानुज आदि उन महान् दार्शनिकों से भी भिन्न हैं, जिन्होंने दर्शन एवं चिंतन के क्षेत्र में तो महान् योगदान दिया ही, परन्तु जिनकी राजनैतिक दृष्टि लगभग शून्य के बराबर थी। इसी प्रकार अपने समकालीन देवेन्द्र नाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन तथा रामकृष्ण परमहंस आदि नवजागरण के उद्घोषकों से भी दयानन्द भिन्न ही हैं इस अर्थ में कि जहां दयानन्द ने देश की राजनैतिक दशा पर अपने विचार स्पष्टतया व्यक्त किये वहां उपर्युक्त महापुरुष अपनी राजनीति निरपेक्ष दृष्टि के कारण राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम को कुछ भी योगदान नहीं दे सके। अस्तु।

दयानन्द मूलतः राष्ट्रवादी थे। उनके राष्ट्रीय भाव की प्रशंसा करते हुये योगी अरविंद ने एक स्थान पर लिखा है—"He had the national instinct and he was able to make it luminous" अर्थात दयानन्द में राष्ट्रीय भाव था और वह उसे उद्दीप्त कर सका था। फ्रैंच विद्वान रौमाँ रौलां का भी यह दृढ़ विश्वास था कि दयानन्द भारत के पुनर्जागरण का अग्रदूत था और उसने भारत की राष्ट्रीय चेतना को जगाने में अद्भुत कार्य किया। होम रूल आन्दोलन की प्रसिद्ध नेत्री श्रीमती एनी बेसेन्ट ने तो यहां तक लिख दिया

है कि ऋषि दयानन्द ही पहले व्यक्ति थे जिन्होंने India for Indians (भारत भारतवासियों के लिये) की घोषणा की।

दयानन्द ने अपने लेख और कथन में सर्वत्र स्वराज्य और साम्राज्य की चर्चा की है। वेदभाष्य, सत्यार्थप्रकाश, आर्याभिविनय तथा गोकरुणानिधि के शतशः उद्धरण इस बात की साक्षी हैं कि दयानन्द भारत की राजनैतिक पराधीनता से अत्यन्त दुःखी थे तथा उनकी यह एकान्त कामना थी कि भारत विदेशियों के दासतापाश से मुक्त होकर स्वराज्य का गौरव प्राप्त करे। ऋषि की इन्हीं भावनाओं को लक्ष्य में रखकर आर्यसमाज ने अपने शैशवकाल से ही भारत के राष्ट्रीय संग्राम में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया। यद्यपि समाज का अपना संगठन एक सार्वभौम धार्मिक आन्दोलन का संचालक होने के कारण किसी देश विशेष की राजनैतिक हल-चल में प्रत्यक्षतः भाग नहीं ले सकता था, फिर भी उसके उत्साही अनुयायियों ने सर्वात्मना भारत के स्वाधीनता आन्दोलन में योगदान देकर अपने आचार्य की राष्ट्रीय भावनाओं का ही आदरपूर्वक पालन किया। श्यामजी कृष्ण वर्मा, लाला लाजपतराय, भगतसिंह, राम प्रसाद बिस्मिल आदि आतंकवादी क्रान्तिकारियों ने अपने सिद्धान्तों तथा उनकी प्रवृत्तियों में आर्यसमाज की राष्ट्रीय बिचारधारा से ही प्रेरणा ग्रहण की है। असहयोग, सविनय अवज्ञा तथा महात्मा गांधी प्रवर्तित सत्याग्रह के अन्यान्य प्रयोगों में भी देश के सहस्रों आर्य-समाजियों ने भाग लिया और कांग्रेस के वैधानिक संग्राम के अंग बने। राजनैतिक संग्राम में आर्यसमाजियों के इस व्यक्तिगत योग-दान को देखकर ही सम्भवतः एक समय ब्रिटिश शासकों की वक्र-दृष्टि आर्यसमाज पर पड़ी थी। तभी तो पटियाले के उस प्रवर्तक पर राजनैतिक षड़यन्त्रकारी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देने का लांछन लगाया गया था, तथा सर वैलैन्टाइन शिरोल ने अपनी Indian unr-esh नामक पुस्तक में आर्यसमाज को आतंकवादियों की जमात के नाम से अभिहित किया था। पटियाला अभियोग के इस्तगासे के

वकील, श्री आर्थर ग्र ने भरसक प्रयत्न किया कि किसी प्रकार आर्यसमाज एक आतंकवादी, षड्यंत्रकारी दल सिद्ध हो जाय, परन्तु उस समय के दूरदर्शी नेता वर्ग ने आर्यसमाज का पक्ष अत्यन्त सावधानी पूर्वक प्रस्तुत किया। जिसके फलस्वरूप समाज के संगठन पर तनिक भी आंच नहीं आई।

यहां एक बात पर और विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा। क्या दयानन्द की राष्ट्रीय विचारधारा पश्चिम की देन है? सामान्यतया यह समझा जाता है तथा बहुत हद तक यह ठीक भी है कि भारत में स्वतन्त्रता के भावों का बीजवपन पाश्चात्य जातियों के सम्पर्क में आने से हुआ। जिसे हम राजनीति विज्ञान की परिभाषा में राष्ट्रवाद (Nationalism) कहते हैं वह यूरोप के राजनैतिक चिंतन का ही परिणाम है। भारत में भी इस विचारधारा के प्रचार और प्रसार का श्रेय पाश्चात्य वाङ्मय के अध्ययन को ही दिया जाता है। परन्तु दयानन्द की राष्ट्रीयता के लिए यह नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः उन्होंने अपनी अन्त प्रज्ञा के बल पर ही भारत की राजनैतिक मुक्ति का चिंतन किया तथा अपनी राष्ट्रीयता की सहजात भावना को प्राचीन आर्ष वाङ्मय में विद्यमान तत्वों से पोषित, पल्लवित एवं पुष्पित किया। इस दृष्टि से जब हम विचार करते हैं तो दयानन्द अपने समकालीन तथा अपने पश्चाद्वर्ती सभी राजनीतिज्ञों को पीछे छोड़ते हुए प्रतीत होते हैं। यहां तक कि राष्ट्रपुरुष गांधी भी अपने सर्वोदय के विचारों के लिये अपने ऊपर पड़ने वाले रस्किन और तालसताय के प्रभाव को स्वीकार करते हैं। परन्तु दयानन्द के प्रेरणास्रोत वेद के वे महनीय सूक्त हैं जिनमें स्वराज्य की अर्चना शतश ऋचायें भरी पड़ी हैं। उनके प्रेरणा स्रोत हैं मनु और शुक्र, चाणक्य और विदुर जो नीतिमत्ता और व्यवहार ज्ञान के साक्षात् कृलधर्मा ऋषि थे।

यहां एक प्रश्न और उत्पन्न होता है। क्या एक और आर्यसमाज जैसे सर्वयुगीन, तथा सार्वभौम मानवहितकारी मिश्नरी चर्च को

स्थापित कर तथा दूसरी और उसके अनुयायियों को स्वराज्यार्चन तथा राष्ट्रभक्ति का पाठ पढ़ा कर आर्यसमाज के प्रवर्तक ने परस्पर विरोधी कार्य नहीं किया है। यह सत्य है कि दयानन्द की शिक्षाओं में राष्ट्रवाद की विचारधारा सूत्र में मणिवत् ओतप्रोत है परन्तु उस का आर्यसमाज के मानववादी दृष्टिकोण से कहीं भी संघर्ष नहीं होता। दयानन्द का राष्ट्रवाद उस फाशिस्त 'राष्ट्रवादी समाजवाद' का पर्याय या स्थानापन्न नहीं है जो My country Right of Wrong में विश्वास करता है। उसके विपरीत दयानन्द का राष्ट्रवाद उस चक्रवर्ती आर्य साम्राज्यवाद के सिद्धान्त को मूर्तिमान करने का एक सोपान मात्र है जिसके लिए ऐतरेय ब्राह्मण ने लिखा है "साम्राज्यं भौज्यं स्वराज्यं पामेष्ठ्यं राज्यं महाराज्यमाधिपत्यमसं समन्त पर्यायी स्यात्सार्वभौम: सार्वयुष अन्नादा परार्धात् पृथिव्यै समुद्रपर्यान्ताया एकराडिति" ३९/१

चक्रवर्ती आर्यनरेश समुद्रपर्यन्त पृथ्वी पर जिस एकराट् साम्राज्य की स्थापना करते हैं, वही दयानन्द का आदर्श था। उसमें न तो एकतंत्री शासन की स्वेच्छाचारिता थी और न आधुनिक प्रजातन्त्र प्रणाली का मूढ़जन विश्वास। सत्यार्थ प्रकाश के छठे समुल्लास में मनुस्मृति आदि महान् राजनैतिक ग्रन्थों के आधार पर दयानन्द ने इसी अर्थ राजनीति के स्वर्णिम सूत्रों को ग्रथित किया है। यह दूसरी बात है कि आर्यसमाज अपने प्रवंतक के राजनैतिक दृष्टिबिन्दु को कहां तक समझ सका है या उसे चरितार्थ कर सका है ?

अध्याय—६

आर्यसमाज की प्रजातांत्रिक चुनाव प्रणाली

अब तक के लेखों में हमने आर्यसमाज की धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा शैक्षणिक क्षेत्रों में उपलब्धियों का मूल्यांकन किया। हमारी लेखमाला का पूर्वार्द्ध यहाँ समाप्त होता है। भारत तथा सम्पूर्ण मानव जाति के लिए आर्यसमाज की विभिन्न क्षेत्रों में देन निश्चय ही उत्साहवर्धक है। अब हमें विस्तार से उन पहलुओं की चर्चा करनी है जिन्हें हम आर्यसमाज की वर्तमान अधोगति और उस के चतुर्मुखी पतन का कारण मानते हैं। सम्भवत: देश के सांस्कृतिक नवोदय के युग में आर्यसमाज ही एक मात्र ऐसी संस्था थी जिसने अपने संगठन के लिए एक लिखित प्रजातांत्रिक विधान को स्वीकार किया और देश के प्रत्येक भाग में आर्यसमाजों, प्रतिनिधि सभाओं तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सार्वदेशिक सभा का गठन हुआ। आर्यसमाज का यह विधान उसके उपनियम कहलाते हैं जिन्हें आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द ने लाहौर में रा. ब. लाला मूलराज की सहायता से अन्तिम रूप दिया। आर्यसमाज के मूल सिद्धांत और उसका उद्देश्य उसके दस नियमों में समाविष्ट है। आर्यसमाज का सभासद वही व्यक्ति बन सकता है जो इन दस नियमों तथा स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित वैदिक सिद्धाँतों को सर्वात्मना स्वीकार कर तदनुकूल आचरण करने की प्रतिज्ञा करता है। कहना न होगा कि आर्यसमाज ने अपने जनतन्त्रात्मक विधान को उस समय क्रियान्वित कर डाला था, जब प्रजातन्त्र और राजनैतिक अधिकारों की बातें करने वाली काँग्रेस जैसी संस्था का जातकर्म भी नहीं हुआ था। आर्यसमाज के लिए यह वस्तुत: गौरव की बात है कि उसने प्रजातांत्रिक अधिकारों का आदर्श उस समय उपस्थित किया जबकि देश में इस प्रकार की चर्चा अपनी गर्भावस्था में ही थी।

जनतन्त्र पर आधारित आर्यसमाज की यह चुनाव प्रणाली एक युग तक अत्यन्त सफलतापूर्वक आर्यसमाज के संगठन का मार्ग दर्शन करती रही। परंतु आज यह अनुभव किया जा रहा है कि आर्यसमाज ने जिस चुनाव प्रणाली को अपनाकर सार्वजनिक क्षेत्र में अपने को पाइनियर घोषित किया था, आज वह स्वयं उसके लिए ही अभिशाप बन गई है। धार्मिक संस्था में गुरुपद को स्थापित करने के स्थान पर विभिन्न पदाधिकारियों के निर्वाचन की जो प्रणाली महर्षि दयानंद ने अपनाई उसका एक कारण यह भी था कि धर्म तथा सम्प्रदायों में गुरुडम ने बहुत अधिक विकृत रूप धारण कर लिया था। गुरु परम्परा धीरे-धीरे व्यक्ति पूजा को जन्म देती है और सिद्धांतों के स्थान पर अनधिकारी व्यक्ति पूजा तथा सम्मान का पात्र बन जाता है परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि स्वामी दयानन्द मूर्खों को प्रजातांत्रिक अधिकार देने के समर्थक थे। मन्वादि स्मृतिग्रन्थों के आधार पर उन्होंने सत्यार्थप्रकाश में यह स्पष्ट कर दिया है कि वेदवित एक भी सन्यासी जिस धर्म की व्यवस्था करे वही धर्म श्रेष्ठ और माननीय है इसके विपरीत सहस्रों अज्ञानी मिलकर भी जो कुछ व्यवस्था दें वह मान्य नहीं हो सकती।

परंतु आज आर्यसमाज में स्थिति प्रतिकूल है। सभासद बनते समय यह तो आवश्यक माना गया है कि सदस्य बनने का इच्छुक व्यक्ति आर्यसमाज द्वारा निश्चित सदाचार की परिभाषा को स्वीकार करने वाला तथा उसके अनुसार चलने वाला हो, परंतु आज सहस्रों में शायद ही कोई एक व्यक्ति हो जो सच्चे अर्थों में आर्यसभासद कहला सकने का अधिकारी हो। अक्सर देखा यह जाता है कि समाजों में गुटबन्दी के आधार पर अपना प्रभाव स्थापित करने तथा बहुमत बनाकर संस्थाओं को हथियाने के लिए अनेक अनधिकारी व्यक्ति भी चार आना मासिक चंदा देकर तथा सदस्यता के प्रार्थनापत्र पर हस्ताक्षर कर आर्यसमाज में प्रवेश पा लेते हैं ऐसे व्यक्ति आर्यसमाज के सिद्धाँतों से नितांत अनभिज्ञ, कर्मकाण्ड तथा सदाचरण

से शून्य सर्वथा अनार्य प्रवृत्ति वाले होते हैं और वे ही अपनी दलबंदी के आधार पर समाजों के प्रधान तथा मंत्री जैसे प्रतिष्ठित पदों पर अधिकार कर लेते हैं। डाक्टर, वकील, व्यापारी, ठेकेदार जैसे वर्गों के लोग ही अक्सर सार्यसमाजों के प्रधान चुने जाते हैं जिनकी व्यवहार कुशलता और जमानेसाजी को तो गुण माना जाता है, परंतु यह नहीं देखा जाता कि उनमें नैतिक गुण कितने हैं। मत गणना पर आधारित यह चुनाव प्रणाली आर्यसमाज को:मुमुर्ष तथा रोगग्रस्त बना रही है यह निर्विवाद है।

आज इस प्रणाली को अपनाने से ही आर्यसमाज के दिग्गज पंडित सर्वसंग परित्यागी सन्यासी और विद्वान् उपदेशकों को उन जड़मति, सिद्धांतहीन तथा धन के गर्व से गर्वित अधिकारियों के आधीन रह कर अपनी प्रवृत्तियों को सीमित कर देना पड़ता है तथा वे सदा उनके कृपा कटाक्षों की अपेक्षा रखते हैं। "अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यानां च व्यतिक्रम:" वाली उक्ति आज आर्यसमाज पर पूर्णतया घटित होती है। जो व्यक्ति जिस पद का अधिकारी होता है वह उसे नहीं मिलता और अधिकारी व्यक्ति सत्ता पाकर विद्वानों पर अपना मूर्खतापूर्ण अनुशासन चलाने की स्थिति में आ जाते हैं।

अध्याय—७

आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संग

सामूहिक उपासना जिस रूप में आज हमारे समाज में प्रचलित है, प्राचीन काल में भी वह उसी रूप में प्रचलित रही होगी, यह निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता। निश्चय ही वैदिक-धर्मा-वलम्बी यदा कदा सम्मिलित रूप से यज्ञादि के वृहद आयोजनों द्वारा राष्ट्र और समाज में सामूहिक चेतना का संचार करते थे। उपनि-षदों में राजर्षि जनक द्वारा आयोजित यज्ञों और वृहत् आध्यात्मिक समारम्भों का विस्तारपूर्वक उल्लेख मिलता है जिनमें सहस्रों की संख्या में तत्ववेत्ता ऋषि, महर्षि एकत्रित होकर ब्रह्म विषयक चर्चा करते थे। नैमिषारण्य में अठ्ठासी हजार ऋषियों द्वारा सम्मिलित रूप से पुरातन आख्यानों को सुनने की कथा भी इस ओर संकेत करती है।

परंतु उन्नीसवी शताब्दी में हमारे देश ने जिस महान् धार्मिक पुनरुत्थान के आंदोलन को देखा उसमें कुछ पाश्चात्य प्रभाव भी दृष्टिगोचर हो रहा था। आर्यसमाज का पूर्ववर्ती ब्राह्मसमाज ईसाइ-यत के अनुसरण पर प्रति शनिवार को सायंकाल ७ से ९ बजे तक अपने साप्ताहिक अधिवेशन लगाता था जिसमें वेदपाठ, वेदव्याख्या के अतिरिक्त आध्यात्मिक प्रवचन और भजन आदि कार्यक्रम होते थे। आर्यसमाज के अधिवेशनों में भी यही परिपाठी अपनाई गई जो आज तक किसी न किसी प्रकार चल रही है।

आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संगों को विधिवत् चलान के लिए सार्वदेशिक सभा ने एक विधि का निर्माण किया है। समाजों से यह आशा की जाती है कि वे इस पद्धति का पालन करें और ऐसी चेष्टा करें जिससे कि इन सत्संगों को अधिकाधिक लोकप्रिय, रोचक और

उपादेय बनाया जा सके, परन्तु देखा यह गया है कि इन सत्संगों का जितना लाभ आर्यसमाज को मिलना चाहिए उतना मिल नहीं पाता। अधिकांस में यह कार्यक्रम एक रूढ़िबद्ध प्रणाली पर चलता रहता है।

साधारणत: आर्यसमाज के सत्संगों में सामूहिक संध्या, यज्ञ, भजन, कथा, प्रवचन और समाचार सूचनायें आदि के कार्यक्रम रहते हैं। अधिवेशन का कोई समय नियत नहीं रहता। कहीं कार्यक्रम विलम्ब से आरम्भ होता है तो कहीं जल्दी। कई समाजों में रविवार की सायंकाल को सत्संग देखे गये हैं। साप्ताहिक सत्संगों में संध्या और हवन प्राय: उपेक्षित से रहते हैं। समझा यह जाता है कि अधिवेशन के आरम्भ में किये जाने वाले यज्ञ का जिम्मा समाज के मंत्री व कुछ यज्ञ प्रेमी कर्मकाण्डी, महानुभावों का है जो सत्संग में ठीक समय पर उपस्थित हो जाते हैं। अन्य सदस्य तो अपनी रुचि और सुविधा के अनुसार आते हैं। अधिवेशनों में किए जाने वाले यज्ञों की प्रणाली में सर्वत्र एकता का अभाव दिखाई देता है। हम आर्यसमाज में प्रचलित कर्मकाण्ड में व्याप्त असंगतियों तथा असमानताओं पर अपनी लेखमाला के अंतर्गत बाद में प्रकाश डालेंगे परन्तु यहाँ इतना लिख देना ही पर्याप्त है कि सत्संगों में किये जाने वाले यज्ञों की विधि में समानता लाने के लिए निश्चित आदेश देना सार्वदेशिक सभा का प्रमुख कर्त्तव्य है।

यज्ञ के पश्चात् कुछ सामूहिक भजन बोलने की परिपाटी है। संगीत मानव हृदय को आकृष्ट करने का प्रमुख साधन है। परन्तु खेद है कि आर्यसमाज ने संगीत की ओर बहुत कम ध्यान दिया है। तभी तो अक्सर यह फब्ती सुनने में आती है कि आर्यसमाजी भजनीकों ने संगीत की हत्या करदी है। साप्ताहिक सत्संगों में यद्यपि ईश्वर भक्ति के ही भजन बोलने चाहिए परन्तु कौनसा ऐसा विषय शेष रह जाता है जिस पर आर्यसमाजी गायक अपने उद्‌गार प्रकट नहीं करता। भजनों के पश्चात् कथा और प्रवचन की बारी आती

है। अक्सर सत्यार्थप्रकाश तथा अन्यान्य वैदिक एवं आर्ष ग्रन्थों को ही कथा के लिए चुना जाता है, परन्तु जिस व्यक्ति पर कथा का भार होता है वह प्रायः अपने विषय का पण्डित नहीं होता और न कथा की तैयारी करने का कष्ट उठाता है। परिणाम यह होता है कि वह कथा के प्रति श्रोताओं की रुचि उत्पन्न करने में असफल होता है।

कथा के पश्चात उपदेश और प्रवचन होने चाहिएं। साधारणतः प्रति सप्ताह कोई उच्चकोटि का विद्वान् आकर किसी समाज में प्रवचन करे यह तो सम्भव नहीं, ऐसी स्थिति में प्रवचन का भार समाज के किसी स्वाध्यायशील सदस्य के सिर पड़ता है। होना तो यह चाहिए कि उपदेश और प्रवचन करने वाला सभा सद्अपने विषय की पूरी तैयारी करे और अपने वक्तव्य को अधिकाधिक सरल, रोचक और बोधगम्यः बनाने की चेष्टा करे। परन्तु देखा यह गया है कि आर्यसमाज के अधिवेशनों में उपदेश के नाम पर जो कुछ वाहियात ऊटपटांग और असम्बद्ध बातें कही जाती हैं उन्हें सुनकर कोई भी नया व्यक्ति आर्यसमाज की ओर आकृष्ट होना तो दूर, जो व्यक्ति आते भी हैं उनका भी समाज में आना धीरे-धीरे कम हो जाता है।

यह है साप्ताहिक सत्संगों का यथार्थ स्वरूप। आर्यसमाज जिस रूढ़िवादिता के विरुद्ध आन्दोलन करता रहा आज वह स्वयं भी रूढ़िवाद का शिकार बन रहा है। हमारे विचार से सत्संगों के सुधार और परिष्कार के लिये निम्न कदम उठाये जाने चाहियें।

(१) सत्संग का समय निश्चित रहे। इसके लिये सार्वदेशिक सभा ग्रीष्म और शीत ऋतु के दिनमान को लक्ष्य में रख कर वर्ष भर के लिये दो समय विभाग नियत करे। देश भर की आर्यसमाजें इस समय क्रम का दृढ़ता से पालन करें।

(२) यज्ञ से पूर्व सामूहिक संध्या हो। उसमें समस्त सदस्य अनिवार्य रूप से उपस्थित रहें। यज्ञ का भार मंत्री या अन्य दो चार

व्यक्तियों पर ही नहीं छोड़ा जाये। यह भी हो सकता है कि मंत्री प्रति सप्ताह चार सभासदों को सपत्नीक यज्ञ में बैठने के लिये आहूत करें। इसका यह लाभ होगा कि समाज का प्रत्येक सदस्य यज्ञ विधि सीख जायगा। समाज का पुरोहित या कोई अन्य स्वाध्यायशील विद्वान् यज्ञ का ब्रह्म माना जाय और उसकी आज्ञा का कठोरता से पालन किया जाय। यज्ञ की सामग्री तथा अन्य उपकरणों एवं यज्ञ की वेदी की स्वच्छता का भार सेवक को सौंपकर ही मंत्री को निश्चिन्त नहीं हो जाना चाहिये।

(३) यज्ञ के पश्चात् ईश्वर भक्ति के एक या दो भजन हों। ऐसे भजन सामूहिक रूप से भी गाये जा सकते हैं। अमीचन्द, नारायण प्रसाद 'बेताब' वासुदेव, नाथूराम शंकर, प्रकाशचन्द्रजी कविरत्न आदि के भजन उच्चकोटि के हैं जिनका गायन हो सकता है। सामूहिक रूप से गाये जाने वाले भजनों के अतिरिक्त जो भजन गाये जायें उनके लिये वाद्यों का भी प्रयोग हो सकता है। परन्तु यह ध्यान रक्खा जाय कि संगीत के माधुर्य और स्वास्थ्य की हत्या न हो। सत्संगों में खण्डनात्मक तथा राजनैतिक विवादपूर्ण भजनों के लिये कोई स्थान नहीं होता।

(४) जिस पुस्तक की कथा की जाय उसका प्रसंग पूर्व से ही श्रोताओं को ज्ञात होना चाहिये। कथा करने वाला अपने विषय की पूरी तैयारी सप्ताह भर करे। कथा के समय हर सदस्य के पास उस ग्रन्थ की एक प्रति का होना अधिक लाभप्रद हो सकता है। जिस प्रकार गिरजे की ओर प्रयाण करते समय एक ईसाई बाईबल लेना नहीं भूलता, इसी प्रकार कोई आर्य वेद या ऋषिकृत ग्रन्थ लिये बिना समाजमन्दिर में क्यों प्रवेश करे ?

(५) यथासम्भव वेदमन्त्रों के आधार पर ही उपदेश और प्रवचन हों। उपदेशों में विषयान्तर करना, अनावश्यक दृष्टान्त देने लगना

अथवा सामयिक राजनैतिक आन्दोलन की अनावश्यक चर्चा और आलोचना करने लगना उपदेश के महत्त्व को नष्ट कर देता है। आर्यसमाज की वेदी की पवित्रता की रक्षा करना प्रत्येक आर्य सभासद् का कर्त्तव्य है। साप्ताहिक सत्संगों को व्यर्थ के वादविवाद और दलबंदी के अखाड़े बनाना घोर पाप है।

(६) अधिवेशन में सम्मिलित होने वाले प्रत्येक सभासद की उपस्थिति को अंकित करने के लिये एक रजिस्टर रहना चाहिये। मताधिकार के समय उस उपस्थिति का ध्यान रक्खा जाना चाहिये।

(७) समाज के अधिकारी सत्संगों की सफलता के लिये विशेष प्रयत्नशील रहें। वे सभासदों को सपरिवार सम्मिलित होने के लिये प्रेरित करें तथा स्वयं उनके लिये उदाहरण बनें।

(८) आर्यसमाज उपासना मन्दिर है। अतः उनकी पवित्रता और मर्यादा की रक्षा करना आवश्यक है। जिन समाजों में कन्या पाठशालायें तथा अन्य शिक्षण संस्थायें चलती हैं उनके मन्दिरों की पवित्रता और भव्यता नहीं रहती। फलस्वरूप वहाँ का वातावरण आध्यात्मिक भावों को उद्रेक नहीं कर सकता। यही कारण है कि आर्यसमाज शुष्क, नीरस, तर्कवादियों के संगठन के रूप में कुख्यात है तथा उनमें भक्ति, आध्यात्म और उपासना के भावों का अभाव हो रहा है।

अध्याय—८

आर्यसमाज मंदिर

आर्यसमाज एक धार्मिक संस्था है और समाज मंदिर मूलतः उपासना मंदिर है। उनकी पवित्रता, शुद्धता तथा सात्विकता उसी कोटि की होनी और मानी जानी चाहिये जिस कोटि की पवित्रता का आरोप हम मंदिर, मसजिद गुरुद्वारा या गिरजे के लिये करते हैं। आर्यसमाज ईश्वर को निराकार, निर्गुण, निर्लेप और निरंजन मानता है अतः समाज मन्दिरों में किसी प्रकार की देव मूर्ति, प्रतिमा या प्रतीक की स्थापना नहीं होती, अपितु सभी आर्य सभासद् वहाँ सम्मिलित होकर सामूहिक रूप से ईश्वर की अपार महिमा का गुणगान करते हैं तथा उसे सर्वेश्वर जान कर उसके प्रति अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

आर्यसमाज अग्निहोत्र को भी पवित्र कर्म तथा देवपूजा का प्रतीक कृत्य मानता है। प्राचीन वैदिक कार्मकाण्ड में यज्ञों की महत्ता सर्वत्र स्वीकार की गई है। महर्षि दयानन्द ने यज्ञ प्रक्रिया को पुनरुज्जीवित किया। यही कारण है कि प्रत्येक आर्यसमाज मंदिर में यज्ञ की पवित्र वेदी निर्मित होती है। यज्ञ प्रत्येक आर्य का नित्य और नैमित्तिक कर्त्तव्य माना गया है। आर्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशनों में यज्ञ प्राथमिक कर्म होता है। उसके पश्चात् ईश्वरोपासना के भजन, धर्म, ग्रन्थों का पाठ और आध्यात्मिक प्रवचन आदि के कार्यक्रम होते हैं। प्रत्येक समाज मंदिर में एक वृहद् उपासना कक्ष (हाल) होता है तथा अन्य आवश्यकतानुसार भवन होते हैं।

आर्यसमाज मंदिरों की वर्तमान दशा—

हमें यह लिखते हुए खेद होता है कि आज आर्यसमाज मन्दिर

सर्वत्र उपेक्षा, अवहेलना तथा अवज्ञा की दृष्टि से देखे जाते हैं। मन्दिरों की शुचिता, सात्विकता और पवित्रता की ओर बहुत कम आर्यों का ध्यान है तथा उनकी मर्यादा रक्षण के लिये भी कोई व्यवस्था नहीं है। आर्य समाज ही देश की एक मात्र ऐसी संस्था है जिसके निज के भवन उत्तर भारत के अधिकांश नगरों और कस्बों में मिलते हैं। परन्तु दुख के साथ कहना पड़ता है कि हम अपने उपासना मन्दिरों को वैसा गौरवमय रूप प्रदान करने में असमर्थ रहे हैं जिनमें सप्ताह पर्यन्त ताला ही लगा रहता है। रविवार के दिन ही मन्दिर के भाग्य जगते हैं जब उसमें झाड़ू लगती है। कई मन्दिर तो ऐसे भी मिलेंगे जिनका सौभाग्य सूर्योदय रविवार को भी नहीं जगता। वहाँ कबूतरों के घोंसले तथा चमगीदड़ों की बीटें ही यज्ञ वेदी का शृंगार करती हैं।

जिन समाज मन्दिरों में कन्या पाठशालायें या अन्य शिक्षण संस्थायें लगती हैं उनका हाल भी खराब ही होता है। मैंने एक समाज मन्दिर के उपासनालय में डैकटैनिस का नैट लगा हुआ देखा। मध्याह्न में छात्रायें इस हॉल का उपयोग अपने क्रीड़ांगण के रूप में करती थीं। परीक्षा के दिनों में वह हॉल परीक्षा स्थल के रूप में काम में लाया जाता था और प्रति रवीवार समाज के कर्मचारी को डेस्कें हटाकर सत्संग के लिये दरियां बिछानी पड़ती थीं। एक अन्य समाज के उपासनालय को कर्मचारी परिवार के लोगों ने अपना ग्रीष्मकालीन विश्राम और शयन कक्ष बना लिया था। यहां इसके बच्चे अपने मूत्र, पुरीष विसर्जन द्वारा उसकी पवित्रता को निरन्तर भ्रष्ट करते रहते थे।

कई समाज मन्दिर तो किराये पर अस्पतालों, स्कूलों तथा अन्य संस्थाओं को दे दिये जाते हैं। जोधपुर के एक उपनगर में आलीशान समाज भवन काम में आता है। उसके मुख्य हॉल के बीच बनी सीमेंट की पक्की यज्ञ वेदी वेस्ट पेपर बास्केट के रूप में प्रयोग में ली

जाती है यह है समाज मन्दिरों की घोर विडम्बना। जो आर्यसमाज हिन्दुओं के मन्दिर आदि पवित्र स्थानों की रक्षा का दम भरतो है वह अपने ही उपासनालयों को शुद्ध और सुरक्षित नहीं रख सकता।

कुछ रचनात्मक सुझाव

(१) समाज मन्दिरों की शुद्धता और मर्यादा की सर्वोपरि रक्षा की जाय। उनकी साज-सम्हाल का काम वैतनिक कर्मचारी के सुपुर्द करके ही हम निश्चिन्त न हो जायें। समाज के अधिकारियों को इस ओर पूर्ण ध्यान देना चाहिये।

(२) समाज मन्दिरों में कोई शिक्षण संस्था या अन्य संस्था न लगे। यदि समाज की इमारत में कोई पाठशाला आदि लगती भी है तो कम से कम मुख्य उपासनालय को तो पूर्णतया समाज के कामों के लिये ही सुरक्षित रक्खा जाय। अक्सर होता यह है कि जिन समाजों में कन्या पाठशालायें लगती हैं उनमें कभी कोई साधु सन्यासी या अतिथि उपदेशक के निवास की भी व्यवस्था नहीं हो पाती। दिन भर छात्राओं और आध्यापिकाओं की उपस्थिति के कारण साधुओं के निवास में व्याघात होना स्वाभाविक ही है।

(३) समाज मन्दिर में कर्मचारी के निवास की व्यवस्था पृथक् हो ताकि वह चौबीस घन्टे वहीं रहकर मन्दिर की देख भाल कर सके।

(४) अतिथियों के निवास के लिये कमरे, स्नानागार, शौचागार आदि की उचित व्यवस्था प्रत्येक समाज मंदिर में हो।

(५) समाजों में दैनिक यज्ञ, सत्संग आदि परिपाटी डाली जाय ताकि वहां आर्यों का सपरिवार नित्य आना जाना होता रहे। तथा वे समाज मन्दिरों की पवित्रता और मर्यादा को समझें।

(६) प्रत्येक समाज मन्दिर में आर्य सभासदों के लिये स्नान, व्यायाम, उपासना आदि की सुविधा रहे।

(७) यज्ञ पात्र, सत्संग के अन्य उपकरण, पुस्तकें दरियें आदि केवल समाज के उपयोग में ही लिये जायें। उन्हें इधर-उधर अन्य प्रयोजनों के लिये न दिया जाय।

(८) समाज मन्दिर की स्वच्छता की रक्षा पूर्णतया अपेक्षित है। किसी भी आर्य को मन्दिर के संवारने बुहारने के कार्य में उसी प्रकार गौरव का अनुभव करना चाहिये जिस प्रकार सिक्ख बंधु गुरुद्वारों के बाहर जूतों की रक्षा का भार अपने ऊपर लेते हैं।

(९) समाज मंदिर धार्मिक प्रवृत्तियों के अतिरिक्त अन्य किसी राजनैतिक कार्यों के लिये प्रयुक्त नहीं होने चाहियें।

+✦+

अध्याय — ९

संस्थावाद का अभिशाप

महर्षि दयायन्द ने अपने स्वीकार पत्र में ही यह लिख दिया था कि उनकी स्थानापन्न परोपकारणी सभा देश देशान्तरों, द्वीप द्वीपान्तरों में वैदिक धर्म का प्रचार करे तथा अनाथ, अबला संरक्षण की ओर ध्यान दिया जाय। महर्षि के इसी ध्येय की पूर्ति के लिए स्थान स्थान पर अनाथालय, वनिताश्रम, विधवाश्रम जैसी संस्थायें स्थापित हुई और आर्यसमाज में प्रचण्ड कर्म शक्ति जाग्रत हुई। फिरोजपुर आगरा, अजमेर आदि नगरों के अनाथालय बहुत पहले से हिन्दू जाति के लाल और ललनाओं के संरक्षण में प्रवृत हैं।

इस प्रकार महर्षि दयानन्द के परलोकगमन के पश्चात् लाहौर में हुये निश्चय के अनुसार महर्षि के स्मारक स्वरूप दयानन्द एंग्लो वैदिक कॉलेज की स्थापना सन् १८८६ में हुई कालान्तर में पंजाब की इस डी. ए. वी. कॉलेज प्रबंधक कमेटी ने पंजाब के अन्यान्य नगरों में डी. ए. वी. स्कूलों तथा कॉलेजों की स्थापना की। सरकार के पश्चात् शिक्षा प्रचार के क्षेत्र में आर्यसमाज ही एक मात्र असरकारी संस्था थी जो सार्वाधिक शक्ति लगा कर शिक्षण संस्थाओं का संचालन कर रही थी। डी. ए. वी. स्कूलों तथा कॉलेजों की स्थापना पंजाव के अतिरिक्त अन्य प्रान्तों में भी हुई। उत्तर प्रदेश, राजस्थान आदि प्रान्तों ने भी पंजाब का अनुकरण किया और उत्तर भारत के प्रमुख नगरों में सहस्त्रों की संख्या में आर्यसमाज द्वारा संचालित शिक्षण संस्थाए ज्ञान की ज्योतिविकीर्ण करने लगीं।

महात्मा मुन्शीराम ने इस शताब्दी के प्रारम्भ में ही गुरुकुल स्थापना का प्रयत्न किया। शीघ्र ही उन्होंने अपने स्वप्न को मूर्तरूप

प्रदान करते हुए गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की नींव डाली। गुरुकुल की प्रबन्ध व्यवस्था आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के हाथों में रही। परन्तु विडम्बना देखिए, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब भी स्कूल, कॉलेजों के आकर्षण से अपने को पृथक् नहीं रख सकी, इसलिए उसने भी आर्य प्रादेशिक सभा की स्पर्धा में कॉलेजों और स्कूलों की स्थापना का कार्य अपने हाथों में लिया। इसलिए कालान्तर में पंजाब के आर्यसमाज के संगठन में जो दरार पड़ी और इन दोनों दलों को जो कालेज पार्टी और गुरुकुल पार्टी नाम दिया गया वह पूर्णतया Logical नहीं है। क्योंकि तथाकथित गुरुकुल आर्टी (आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब) ने भी स्पर्धा भाव से ही सही पंजाब के कई नगरों में कॉलेजों की स्थापना की थी और ये संस्थायें अब भी प्रतिनिधि सभा की विद्यासभा द्वारा संचालित होती हैं।

उपर्युक्त पंक्तियों में हमने आर्यसमाज के अन्तर्गत पनपने वाले संस्थावाद के प्रारंभ और विकास की एक संक्षिप्त रूप रेखा प्रस्तुत की है धीरे-धीरे ये संस्थायें आर्यसमाज की प्राण शक्ति को ही अवरुद्ध करने वाली सिद्ध होने लगी तथा इनसे आर्यसमाज की मिलने वाली पोषण शक्ति समाप्त हो गई। आर्यसमाज में त्यागी, तपस्वी, सिद्धान्तनिष्ठ तथा आस्तिक व्यक्तियों के स्थान पर ऐसे व्यक्ति आने लगे जो संस्थाओं के संचालन में रुचि लेते थे तथा अत्यधिक व्यावहारिक होने के कारण जो येन केन प्रकारेण By fair foul means) आर्यसमाज के मुख्य कार्यक्रम वेदप्रचार के स्थान पर संस्थाओं का चलाना ही अपना मुख्य कर्त्तव्य समझ बैठे थे। अनाथालयों और वनिताश्रमों के नाम पर अनेक अकाण्ड ताण्डव घटित होने लगे जिनके कारण आर्यसमाज के दुग्ध धवल यश पर बट्टा लगने लगा। शायद ही कोई ऐसी संस्था रही हो जिसके साथ कलंक कालिमा की कोई न कोई कहानी न जुड़ी हो। हिन्दी के सुप्रसिद्ध कहानी लेखक चतुरसेन शास्त्री ने अपनी "विधवाश्रम" कहानी के माध्यम से उन लोगों पर अच्छा व्यंग किया है। जो ऐसी संस्थाओं

की आड़ में व्यभिचार को पनपने का अवसर देता है। कठोर नियं-त्रण और व्यवस्था के अभाव में ऐसे वनिताश्रम कालान्तर में दुरा-चार के अड्डे बन जाते हैं। शायद इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर सार्वदेशिक सभा ने यह आदेश प्रचलित किया था कि दयानन्द और श्रद्धानन्द के नाम पर कोई"अनुत्तरदायित्वपूर्ण अनाथ, विधवा आश्रम जैसी संस्था न चलाई जाय और न ऐसी गैर जिम्मेदाराना संस्थानों को आर्यसमाजें या आर्यपुरुष अपना संरक्षण ही प्रदान करें।

यही बात शिक्षण संस्थाओं के लिए भी कही जा सकती है। आज आर्यसमाज इन संस्थाओं पर करोड़ों रुपए तथा अपनी समूची शक्ति व्यय कर रही है। फिर भी हमें क्या इन संस्थाओं से पूरा लाभ मिलता है। एक समय था जब कि ये शिक्षण संस्थायें आर्य-समाज के लिए कुछ उपयोगी सिद्ध हुई थीं, परन्तु अब विपरीत परिस्थितियों में इन्हें चलाना वैसा ही है जैसा कि बंदरिया अपने मृत शिशु को चिपकाए फिरती है इन शिक्षण संस्थाओं में जो पाठ्य-कम चलता है वह पूरा सरकारी आदेशों का अनुसरण करता है। अनेक कॉलेजों में सहशिक्षण की व्यवस्था है। कॉलेजों के छात्र संघ Trade unlon की पद्धति पर चलाए जाते हैं जो कभी २ संचालकों के लिए सरदर्द का कारण बन जाते हैं। न तो अध्यापक में ही महर्षि दयानन्द के व्यक्तित्व और उनके कार्यों के प्रति कोई अनुराग की भावना दृष्टिगोचर होती है और न इन कालेजों में पढ़ने वाले आर्यसमाज के मिश्नरी और धर्म प्रचारक बनने की भावना से अध्ययन रत प्रतीत होते हैं। पुनः इन संस्थाओं के गुरुभार को वहन करने में क्या औचित्य है ?

आज कोई ऐसी आर्यसमाज नहीं जिसके साथ कोई न कोई संस्था न लगी हुई हो। आर्यसमाजों के अधिकारी सिद्धान्त-प्रचार, धर्मप्रचार विश्व के आर्यकरण के महत् उद्देश्य को विस्मृत कर कन्या पाठ-शालाओं के संचालन में अपनी शक्तियों का अपव्यय कर रहे हैं।

सरकारी सहायता में कैसे अभिवृद्धि हो, झूठे हिसाब किताब रख कर grant in aid में कैसे वृद्धि की जाय, अपने रिश्तेदारों को इन संस्थाओं में कैसे नियुक्त किया जाय, अध्यापक अध्यापिकाओं से अपने व्यक्तिगत कार्य कैसे लिए जाए यही हैं वे प्रपंच जिनमें समाजों के संचालक आज सर्वत्र रत दिखाई देते हैं। सरकारी नियमों के कारण अब तो आर्यसमाजों द्वारा संचालित विद्यालयों को प्रबन्धकारिणी सभाओं पर से आए समाज का निय ंत्रण ही समाप्त हो गया है। फलत: अनेक समाजों में ऐसी पाठशालाएं चलती हैं जिनका नियंत्रण पूर्णत: स्वतंत्र और आर्यसमाज निरपेक्ष कमेटियों के हाथ में होता है।

आज आर्यसमाज में वह संस्थावाद का दानव अपने निकृष्टतम रूप में प्रविष्ट हो चुका है। डाक्टर जी और वकील साहब, ठेकेदार जी तथा इंजीनियर साहब आज आर्यसमाज में आते ही इसलिए हैं कि वे इन संस्थाओं पर अपना स्वत्व कायम कर सकें अन्यथा उन्हें वेद प्रचार और सिद्धान्त प्रसार से क्या काम। मैंने आर्यसमाज के प्रधान पद पर ऐसे लोगों को प्रतिष्ठित होते देखा है जो सर्वदा अनार्य एवं दस्यु प्रवृति के होते हैं, परन्तु उन्हें लाया ही इसलिए जाता है कि वे पाठशाला या अनाथालय के लिए तिकड़म से धन ला सकेंगे। यदि आर्य समाज ने समय रहते संस्थावाद के इस भय ंकर अजगर से छुटकारा नहीं पाया तो यह निश्चित है कि निकट भविष्य में ही यह उसके सम्पूर्ण जीवन रस को सोख लेगा और तब जो बचेगा वह होगा केवल कंकाल।

अध्याय—१०
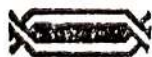
आर्यसमाजों के वार्षिकोत्सव

आर्यसमाज के वार्षिक उत्सव मनाने की प्रथा महर्षि दयानन्द के जीवनकाल में ही आरम्भ हो गई थी, बात का पता हमें उनके जीवन चरित्र से लगता है। वर्ष भर आर्यसमाजों में साप्ताहिक सत्संगों का आयोजन, पर्वों तथा त्यौहारों पर विशिष्ट कार्यक्रमों का आयोजन चलता ही रहता है। अत वर्ष में एक महत् आयोजन वार्षिक उत्सव का होता है जबकि बाहर के आगन्तुक उपदेश और भजनीकों के भजन, व्याख्यान आदि के कार्यक्रम तीन या चाक दिन तक निरन्तर रक्खे जाते हैं। परन्तु आज हम देखते हैं कि आर्यसमाजों में वार्षिक उत्सव भी प्रेरणा औक नव जीवन का स्रोत न रह कर रूढ़ि और प्रथा पालन मात्र ही रह गये हैं। उनसे लाभ उस अनुपात में नहीं होता जिस अनुपात में उन पर धन और श्रम व्यय किया जाता है।

विभिन्न प्रान्तों की आर्यसमाजों के उत्सवों पर उपदेशक और भजनीकों को भेजने का दायित्व प्रान्त का प्रतिनिधि सभा का होता है। सभा वेद प्रचार कोश में एक निश्चित धनराशि देने पर उत्सव के लिये वक्ताओं की व्यवस्था सभायें कर देती हैं। उत्तर प्रदेश तथा पंजाब में वेद प्रचार विभाग पर्याप्त सुव्यवस्थित हैं तथा वहाँ वैतनिक उपदेशक भी काफी संख्या में हैं, परन्तु जिन प्रांतों की सभाओं के अन्तर्गत पर्याप्त संख्या में उपदेशक नहीं होते, वहाँ की आर्य समाजों को स्वतन्त्र उपदेशकों को बुलाना पड़ता है जो अपने व्याख्यानों का मूल्य (जिसे दक्षिणा कहा जाता है) पहले से ही निश्चित कर लेते हैं। कई वक्ताओं का बाजार भाव वहुत चढ़ा रहता है क्योंकि राज-नैतिक व अखबारी विषयों को वाणी के माधुर्य की चाशनी में घोल कर प्रस्तुत करना उनका मुख्य कार्य होता है। ऐसे नेता टाइप

वक्ताओं की प्रत्येक समाज में मांग रहती है और उस समाज का उत्सव तब तक सफल नहीं समझा जाता, जब तक कि उस प्रकार के वक्ता महोदय उपस्थित नहीं होते। अस्तु।

सभाओं के वैतनिक उपदेशक वर्षभर उत्सवों तथा अन्य कार्य-क्रमों को भुगताते रहते हैं। उन्हें स्वतन्त्र स्वाध्याय, चिंतन और अध्ययन का बहुत कम अवसर मिल पाता है, परिणाम यह होता है कि वे अपने २-४ पेटेन्ट व्याख्यान बना लेते हैं और प्रत्येक उत्सव पर उन सीमित व्याख्यानों से ही काम चला लेते हैं। ऐसे वक्ताओं का मनोवैज्ञानिक दिवालियापन इसी बात से सूचित होता है कि वे यह भी नहीं जानते कि मैं इसी नगर में पिछले वार्षिक उत्सव पर इसो श्रोतृ मण्डली के समक्ष इसी विषय पर अथ से इति तक यही व्याख्यान दे चुका हूँ। मैंने आर्यसमाज के एक वैदिक दिग्गज का ऋग्वेद के सप्तसिंधु सूक्त पर व्याख्यान मथुरा की दीक्षा शताब्दी पर सुना, पुनः उसे टंकारा के ऋषि बोध पर्व पर सुना और यही व्याख्यान अजमेर के ऋषि मेले में भी सुना। पता नहीं इन दो तीन वर्षों के भीतर उन वक्ता महोदय ने ऋग्वेद पर कोई नवीन विचार किया था या नहीं। उत्सवों में वक्ताओं की दिनचर्या का निरीक्षण कीजिये। रात्रि को देर तक उत्सव का कार्यक्रम चलता है अतः उपदेशक मण्डली को प्रातःकाल शय्या त्याग तथा नित्यकर्मों से निवृत्त होने में ही पर्याप्त विलम्ब हो जाता है। अतः ठीक समय पर यज्ञ के कार्यक्रम में सम्मिलित होने वाले उपदेशक बहुत कम होते हैं। जहाँ दिन में कोई कार्यक्रम नहीं होते वहाँ उपदेशकों का दिन सोने और विश्राम करने में ही व्यतीत होता है। उनका दैनन्दिन जीवन इतना रूढ़, परम्पराबद्ध तथा जड़ताग्रस्त हो जाता है कि वे उत्सव के समय मिलने वाले अवकाश को स्वाध्याय, लेखन, चिंतन या विचार विमर्श में न लगा कर साथी उपदेशकों की निन्दा स्तुति, समाज के अधिकारियों की व्यवस्था सम्बन्धी आलोचना, भोजन आतिथ्य पर Remarks पेश करते हुये ही अपना समय नष्ट करते हैं।

आर्यसमाजों के उत्सवों पर जो श्रोतागण आते हैं, उनमें नगर या कस्बे के बुद्धिवादी वर्ग के लोग, शैक्षणिक संस्थानों से सम्बद्ध विद्यार्थी, अध्यापक, पत्रकार, चिंतन, दार्शनिक तथा ऊंचे तबके के लोगों का पूर्ण अभाव होता है। ऐसे लोग राम कृष्ण मिशन, थियोसोफी आदि धार्मिक संस्थाओं द्वारा आयोजित कार्यक्रमों में तो जाते हैं, परन्तु आर्यसमाज के उत्सव में नहीं आते। कारण यह है—वे जानते हैं कि जिस उच्चकोटि के मानसिक भोजन की उन्हें आवश्यकता है वह उन्हें वहाँ नहीं मिलेगा। वहाँ तो भजनीकों के वही वर्षों पुराने बासी भज़न, फिल्मी तर्जों पर गढ़े गये भद्दे गीत, अकबर बीरबल के चुटकले तथा घिसेपिटे दृष्टान्तों से भरे भजनोपदेश मिलेंगे या गरम मूंगफली की तरह जायकेदार अखबारी भाषण जिनमें पाकिस्तान, कश्मीर, सिक्ख, नागालैंड आदि सभी राजनैतिक विषय तो चर्चित् होंगे, परन्तु वेद, आध्यात्म, दर्शन आर्यसमाज के सिद्धांत जैसे गम्भीर विषयों को स्पर्श भी नहीं किया जायगा। यह कहना आवश्यक है कि शिक्षित और बौद्धिक वर्ग के लोगों की राजनैतिक चेतना स्वयं इतनी प्रबुद्ध होती है कि वे आर्यसमाज के इन नेता टाइप के वक्ताओं की राजनैतिक बकवास को सुनना अपना समय नष्ट करना समझते हैं।

आर्यसमाजों के उत्सवों में समय विभाग पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। अधिकांश उत्सवों की कार्यवाही मध्यरात्रि तक चलती जाती है क्योंकि आर्यसमाज के अधिकारी जनता को अपने पीछे ले चलने की अपेक्षा स्वयं जनता के पीछे चलना अधिक पसन्द करते हैं। अतः यदि उत्सव के कार्यक्रमों को सिनेमा या नाटक का स्थानापन्न समझ कर आने वाले लोग यदि अमुक रेडियो सिंगर के भजनों में अधिक रस लेने लगते हैं या अमुक चिमटा मण्डली का गायन उन्हें अधिक आकर्षित करता है तो समाज के मन्त्री जी भी उस रेडियो सिंगर को या उप चिमटा मण्डली को उत्सव का मंच सौंप कर निश्चिन्त हो जाते हैं, फिर चाहे घड़ियों में अगली तिथि का परि-

बर्तन ही क्यों न हो जाय। वे इस बात की चिंता नहीं करते कि इस प्रकार तीन या चार दिनों तक निरन्तर मध्यरात्रि के बाद तक जागरण करने से कार्यकर्ताओं या श्रोताओं के स्वास्थ्य पर कितना बुरा प्रभाव पड़ेगा, अथवा प्रातः जल्दी उठकर यज्ञादि में सम्मिलित न होने से उनमें सात्विक मनोवृत्तियों की अपेक्षा तामसिक प्रवृत्तियाँ ही अधिक पनपेंगी।

उत्सवों में जो भाषण होते हैं, उनका कोई निश्चित विषय नहीं होता और न वक्ताओं के विषयों में परस्पर सामञ्जस्य, संगति या समन्वय बिठाने की कोई चेष्टा अधिकारियों की ओर से ही की जाती है। परिणाम यह होता है कि यदि प्रथम वक्ता उपनिषदों के आध्यात्मवाद पर बोलकर अपना स्थान लेते हैं तो दूसरे वक्ता वैदिक युद्धवाद का प्रतिपादन करते हैं। यदि एक उपदेशक ईसाई मुसलमानों को कोसते हैं तो दूसरे विश्व शान्ति, मानव प्रेम तथा पारस्परिक भ्रातृभाव का राग अलापते हैं। कभी-कभी तो गम्भीर उपदेश के पश्चात् किसी सस्ते भजनीक के चुटकले टाइप के भजनोपदेश कराकर वातावरण की गुरुता एवं गम्भीरता को ही नष्ट कर दिया जाता है। वक्ताओं में अनुशासन की कमी इसी बात से दृष्टिगोचर होती है कि कोई भी वक्ता निश्चित समय के भीतर अपने वक्तव्य को समाप्त करना नहीं चाहता। अकसर मन्त्री जी घण्टी बजाते ही रहते हैं और वक्ता उसकी उपेक्षा ही करता रहता है। हर वक्ता अपना भाषण उसी समय प्रारम्भ करना चाहता है जब श्रोताओं का मजमा पूरा जमा हो अतः अकसर इस बात पर वक्ताओं में खींचतान होती रहती है कि कार्यवाही के प्रारम्भ में कौन बोले क्योंकि उस समय श्रोताओं की संख्या थोड़ी ही होती है। ये है उत्सवों के विषय में कुछ तथ्य जो कटु होने पर भी सत्य हैं।

कतिपय सुझाव—

(१) उत्सव से पूर्व किसी विद्वान् की सप्ताह भर तक निश्चित शास्त्रीय या आध्यात्मिक विषय पर कथा का आयोजन कराया जाय

जो उत्सव के लिये उपयुक्त वातावरण बनाने में सहायक हो।

(२) निश्चित विषयों पर विद्वानों के सुनिश्चित, सुव्यवस्थित भषण कराये जायें। विषयों की सूचना विज्ञापन तथा प्रकाशित कार्यक्रम में अंकित रहे। विषयों में सामञ्जस्य और संगति रहे।

(३) विभिन्न बौद्धिक वर्ग के लोगों से विशेष सम्पर्क कायम कर उत्सव में आमंत्रित किया जाय तथा व्याख्यानों और कार्यक्रमों के बारे में उनकी प्रतिक्रिया जानी जाय।

(४) स्थानीय पत्रों द्वारा उत्सव का विज्ञापन किया जाय तथा पत्रकारों को उत्सव में भाग लेने के लिए निमन्त्रित किया जाय।

(५) सायंकालीन सभा की कार्यवाही ठीक समय पर आरम्भ हो और निश्चित समय पर समाप्त हो। वक्ता निरन्तर समय का अतिक्रमण न करें ओर १०॥ बजे के बाद तो किसी भी हालत में कार्यक्रम को न बढ़ाया जाय।

(६) यज्ञ तथा मध्यान्ह के कार्यक्रमों को रोचक बनाया जाय। दिन के समय विभिन्न शिक्षण संस्थाओं में वक्ताओं के भाषण कराये जायें तथा उत्सव के दिनों में सदस्यता वृद्धि का अभियान तथा जन-सम्पर्क स्थापित करने की चेष्टा की जाय।

(७) राजनैतिक विवादपूर्ण भाषणों को निरुत्साहित किया जाय। गम्भीर सद्धांतिक तथा शास्त्रीय विषयों को प्रोत्साहित किया जाय। ऐसा न हो कि समाज के उत्सव का मंच राजनैतिक पार्टी का अखाड़ा प्रतीत होने लगे।

(८) भजनीकों को विशुद्ध शास्त्रीय संगीत की पद्धति पर अथवा साहित्यिक भक्तिभावोपेत भजनों को गाने के लिये प्रोत्साहित किया जाय। उनकी व्याख्यान के नाम पर ऊलजलूल बकवास को बंद किया जाय।

(९) उत्सवों पर वेद सम्मेलन तथा आर्य सम्मेलन आदि का आयोजन कर ठोस विचार विमर्श द्वारा रचनात्मक कार्यक्रम बनाने की चेष्टा की जाय।

अध्याय ११

उपदेशक और भजनीक

आर्यसमाज के वयोवृद्ध तथा ज्ञानवृद्ध विद्वान् पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय ने सम्भवत: आर्यसमाज (मासिक पत्र) कलकत्ता में एक लतीफा लिखा था—किसी आर्यसमाज के उत्सव के उपलक्ष में दो उपदेशक एकत्र हुये। एक ने समाज के मंत्री से दूसरे की निन्दा करते हुए कहा, अजी, वह तो उपदेशक क्या पूरा बैल है, उसे उपदेश से क्या वास्ता ! इसी प्रकार अवसर पाकर दूसरे ने भी पहले के बारे में मंत्री जी से ऐसी ही निन्दात्मक बात कही—अजी, यह जो आये हैं, पूरे गधे हैं। इन्हें उपदेश करना क्या आता है। कहते हैं कि भोजन के समय पर मंत्री जी ने एक के सामने भूसा और दूसरे के सामने दाना रख दिया तो वे बड़े चक्कर में पड़े। जब उन्होंने मंत्री जी के इस असभ्य व्यवहार का अर्थ पूछा तो उन्हें उत्तर मिला, आपने ही एक दूसरे के जो गुण मुझे बताये हैं, उनके अनुसार आप जो ठहरते हैं, वैसी ही व्यवस्था मैंने की है। इस लतीफे का तात्पर्य यह बताता है कि आर्यसमाज के उपदेशकों में परस्पर कितना अधिक मनोमालिन्य है। इन पंक्तियों का लेखक एक उत्सव में गया। वहाँ दो उपदेशक नामधारी जीवों का पारस्परिक वार्तालाप सुनने का अवसर उसे मिला। वार्तालाप का सार यही था कि अमुक व्यक्ति नगर में अपना सिक्का जमा रहा है। अमुक स्वामी ने अमुक क्षेत्र के समाजों पर अपना प्रभुत्व जमा रक्खा है। अमुक उपदेशक को कुछ आता नहीं। अथवा इस बर्ष मैं बम्बई गया। वहाँ के एक आर्य श्रेष्ठी ने मेरा खूब स्वागत सत्कार किया। महानगरी का भ्रमण उसी की कार में हुआ और जाते-जाते इतनी द्रव्यराशि दक्षिणा के रूप में मिली।

यह सब लिखने की आवश्यकता इसलिये पड़ी कि आज आर्य-समाज के उपदेशक अपने कर्त्तव्य से च्युत होकर उसके पतन के कारण बन रहे हैं। उनमें लेखराम, गुरुदत्त, श्रद्धानन्द और दर्शनानन्द का त्याग, तप, वैदुष्य और लगन का सर्वथा अभाव है। उपदेशक की सफलता इसी में मानी जाती है कि वह श्रोतृमण्डली द्वारा कितनी बार ताली पिटवा सकता है।

आज आर्यसमाज में उपदेशक बननें के लिए किसी प्रकार की कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती। स्वेच्छा से ही लोग यह गुरुतर कर्त्तव्य स्वीकार कर लेते हैं, परन्तु उसे निभाने में असफल होते हैं। मैंने कई ऐसे उपदेशकों को देखा है जो इस व्यवसाय में अपनी सारी आयु को होम चुके हैं, परन्तु जिन्हें अवसरानुकूल बात कहना नहीं आता, जो प्रकरणवित् नहीं और जिन्हें इस बात का ज्ञान नहीं कि किस अवसर पर क्या कहना चाहिए। महिलाओं की उपस्थिति में Sex सम्बन्धी ऐसी-ऐसी बाते कही जाती हैं जिन्हें सुनकर श्रोताओं को भले ही लज्जा आ जाय परन्तु पलितकेशवक्ता को तनिक भी लज्जा नहीं आती। तभी तो दह निश्शंक होकर प्रजनन विज्ञान विषयक जटिल बातों को रस ले लेकर कहता रहता है।

आर्यसमाज ने अपने प्रारम्भिक काल में उपदेशकों की शिक्षा दीक्षा पर पर्याप्त ध्यान दिया था। पं० लेखराम की स्मृति में आगरा में पं० भोजदत्त शर्मा द्वारा आर्य मुसाफिर विद्यालय चलाया गया, जिसमें इस्लाम के विशेषज्ञ उपदेशक तैयार किए जाते थे। स्व० मौलवी महेशप्रसाद आदि इसी उपदेशक विद्यालत की उपज थे। इस विद्यालय का लोहा महापण्डित राहुल ने भी माना जो स्वयं उस विद्यालय के छात्र रहे थे। पंजाब सभा के द्वारा गुरुदत्त भवन लाहौर में जो दयानन्द उपदेशक विद्यालय चलाया गया, उसने भी उच्चकोटि के उपदेशक आर्यसमाज को प्रदान किए हैं। परन्तु आज पंजाब के एकाध उपदेशक विद्यालय को छोड़ कर कोई

ऐसी संस्था नहीं है. जहाँ आर्यसमाज के लिए उपदेशक तैयार किए जाते हों। विश्व को आर्य बनाने वालों को पहले आर्य उपदेशक तैयार करने की ओर ध्यान देना चाहिए।

उपदेशक तैयार करने के लिए हमें ईसाइयों से शिक्षा लेनी होगी, जिनके उपदेशक विद्यालयों में प्रवेश पाने की न्यूनतम योग्तता किसी विश्वविद्यालय का स्नातक होना है। वे विश्व भर के देशों के लिए अपने प्रचारक तैयार करते हैं। जो छात्र जिस देश में जाकर प्रचार करने का इच्छुक होता है उसे उसी देश की भाषा, धर्म, संस्कृति तथा इतिहास का अध्ययन करना पड़ता है। इस दृष्टि से मतमतान्तरों के विशेषज्ञ प्रचारक आर्यसमाज ने तैयार किए ही नहीं। हमारे यहां न तो ऐसे उपदेशक हैं जो द्राविड़ भाषा भाषी दक्षिण भारतीयों में उनकी भाषा के माध्यम से प्रचार कर सकें और न ही अंग्रेजी, फ्रैन्च आदि यूरोपीय भाषाओं के माध्यम से विदेशों में आर्यसमाज का प्रचार करने वाले विद्वान् ही हैं। पुनः 'कृण्वन्तोविश्वमार्यम्' के नारे का अर्थ। पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि सुप्रसिद्ध ईसाई पादरी जे० एन० फर्कुहर ने Modern Religious Movements in India नामक अपनी पुस्तक की रचना उन ईसाई प्रचारकों के अध्ययनार्थ की थी जो भारत को अपना कार्य क्षेत्र बनाना चाहते थे। कहना न होगा कि उक्त पुस्तक भारत में प्रचलित वर्तमान धर्म और संस्कृति विषयक आन्दोलनों का विश्व कोष ही है। एक विदेशी ईसाई प्रचारक का भारतीय धर्मान्दोलनों का अध्ययन कितना सूक्ष्म और गम्भीर है यह इस पुस्तक से ही प्रकट होता है जब कि आर्यसमाज के कई पेशेवर प्रचारकों को अपनी भगिनी संस्थाओं (ब्राह्मसमाज, प्रार्थना-समाज, थियोसोफी आदि) के विषय में भी कुछ अधिक ज्ञान नहीं होता।

धर्म प्रचारक में योग्यता का होना तो आवश्यक है ही उसमें

त्याग और कष्ट सहिष्णुता भी होनी चापिये। आज पं० लेखराम जैसे त्यागी, तपस्वी और कष्ट सहिष्णु धर्मोपदेशक तो आर्यसमाज में कहाँ, जो जान को खतरे में डाल कर ऐसे स्टेशन पर चलती गाड़ी से भी उतर पड़ते थे जहां गाड़ी ठहरती नहीं थी। आज तो आर्यसमाज के उपदेशक जाते ही वहाँ हैं, जहां आर्यसमाजें होती हैं और जहाँ उन्हें सभी प्रकार की सुख सुविधाएँ मिलने का विश्वास होता है। यही कारण है कि भारत के लाखों गाँव आयसमाज के उपदेशकों के चरणस्पर्श से वंचित रहते हैं।

तथाकथित भजनोपदेशकों ने तो आयसमाज के धर्म प्रचार का और भी बंटाढार कर रक्खा है। संगीत मानव हृदय को आकर्षित करने वाली एक दिव्य शक्ति है। इसका सहारा लेकर मनुष्य-मनुष्य को ही नही पशु पक्षियों तक को मंत्र मुग्ध कर सकता है। सभी धर्मावलम्बी संगीत के माध्यम से धर्म प्रचार करते हैं। एक समय था जबकि आर्यसमाज में अमीचन्द, बस्तीराम, वासुदेव, तेजसिंह जैसे प्रचण्ड व्यक्तित्व वाले प्रभावशाली भजनोपदेशक थे। आज भी कुंवर सुखलाल का वाणीचातुर्य और कविरत्न पं० प्रकाश चन्द्र जी की मधुर स्वर लहरी को लोग भूले नहीं हैं परन्तु यह भी सत्य है कि आर्यसमाज में संगीत कला के मर्मज्ञ उच्चकोटि के भजनोंपदेशक अब अंगुलियों पर गिने जाने योग्य ही रह गये हैं। जनसाधारण में तो वर्तमान आर्यसमाजी भजनीकों के फूहड कला प्रदर्शन को देखकर यह धारणा सी बन गई है कि संगीत और आर्य भजनीक का सम्बन्ध ३६ का होता है। इस प्रसंग में मुझे 'चांद' मासिक पत्र में प्रकाशित होने वाली स्व० पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक (उपनाम विजयानन्द दुबे जी) द्वारा लिखित उस चिट्ठी का स्मरण हो आता है जिसमें आर्यसमाजी भजनीकों को संगीत कला की हत्या करने वाला बताया गया है। बात यद्यपि कटु ही है फिर भी उसमें तथ्य है। आज कितने भजनोपदेशक हैं जिन्होंने विधिवत

आर्य विद्धान्त और संगीत की शिक्षा ली है। यों ही हारमोनियम पर दो चार फिल्मी तर्ज के भजन गा लेना भजनोपदेशक बनने के लिये काफी नहीं है।

आर्यसमाज के भजनोपदेशक अपने भजनोपदेश के नाम पर जो कुछ करते हैं, उसके बारे में इस ग्रन्थ के कई लेखों में प्रासंगिक चर्चा हो चुकी है। लेखक को १९६१ की मई में हुये उस आर्यमहासम्मेलन (नई दिल्ली) का ध्यान आता है जिसमें एक ओर तो आर्यसमाज की प्रचार प्रणाली में आवश्यक परिवर्तन लाने हेतु प्रमुख आर्यों के सम्मेलन में घण्टों वाद-विवाद हुआ और उसी सम्मेलन के खुले पण्डाल में, ठीक ऊसी समय जबकि आर्यसमाज का विचारक वर्ग प्रचार प्रणाली के दोषों को दूर करने हेतु गम्भीर विमर्श कर रहा था, एक रेडियो सिंगर कोटि के भजनीक गा रहे थे—"मम्मी की डैडी से लड़ाई हो गई। चीन की जापान पर चढ़ाई हो। गई।" कितनी विडम्बना है। कितना अन्तविरोध (Seif Contradiction) है हमारे विचार और व्यवहार में। जब तक आर्यसमाज के सर्वोच्च अधिकारी उपदेशकों और भजनीकों को पूर्ण नियन्त्रित, अनुशासन बद्ध तथा व्यवस्ति नहीं करेंगे तब तक आर्यसमाज का प्रचार कार्य इच्छित फलदायक नहीं हो सकेगा। रचनात्मक सुझावों की दृष्टि से इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि आर्यसमाज की सर्वप्रभुता सम्पन्न संस्था सार्वदेशिक सभा अपने नियन्त्रण में एक विद्यालय ऐसा खोले जो उपदेशकों के सर्वांगीण शिक्षण में सक्षम हो। भजनीकों के लिये संगीत की उच्चशिक्षा की व्यवस्था भी होनी आवश्यक है। इसके बिना काम नहीं चलेगा। नान्यः पन्था विद्यते।

अध्याय १२

आर्यसमाज के साधु संन्यासी

आर्यसमाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सर्व संग परित्यागी परिव्राट् थे। उन्होंने लोक हितार्थ संन्यास ग्रहण किया और जन-मंगल के लिये समाधि का आनन्द छोड़ा। आर्यसमाज वर्ण व्यवस्था और आश्रम व्यवस्था को सर्वथा विधेय मानता है। स्वामी जी के पश्चात् आर्यसमाज में अनेक उच्चकोटि के संन्यासी हुये जिन्होंने अपने त्याग, तपस्या और आत्मिक बल से देश, जाति तथा धर्म के अभ्युत्थान में अपने आपको सर्वात्मना समर्पित कर दिया। स्वामी श्रद्धानन्द जैसे राजर्षि, महात्मा नारायण स्वामी जैसे नेतृत्व की क्षमता रखने वाले, स्वामी सर्वदानन्द जैसे वीतराग तथा स्वामी वेदानन्द जैसे वैदुष्य के भण्डार संन्यासियों पर आर्यसमाज उचित गर्व कर सकता है। आज आर्यसमाज में तेजस्वी संन्यासियों का दुर्भिक्ष दिखाई देता है। जराजीर्ण और मुमुर्षू दशा प्राप्त आर्य-समाज की मृत-प्राय काया में संजीवनी का संचार करने वाला कोई महान् संन्यासी आज आर्यसमाज में नहीं है।

हाँ, कहने को आज भी भगवा वस्त्र धारी सहस्रों नामधारी संन्यासी आर्यसमाज में हैं, परन्तु कितने ऐसे हैं जिन्होंने दयानन्द की विरासत को भली भांति समझा है तथा जो त्रिविध ऐषणाओं को त्याग कर लोक हित के लिए आहुत हो रहे हैं। जो उल्लेखयोग्य संन्यासी आर्यसमाज में हैं उनमें सर्व प्रथम महात्मा आनन्द स्वामी का नाम लिया जा सकता है। आनन्द स्वामी जी ने योग और भक्ति के सोपानों पर चढ़कर स्वात्मकल्याण के लिए जितना प्रयत्न किया वह श्लाघनीय है। स्वामी ब्रह्ममुनि ने आर्यसमाज के साहित्य

भण्डार को अपनी विद्वत्तापूर्ण कृतियों से समृद्ध किया है, परन्तु जब से ब्रह्मचारी कृष्णदत्त का विरोध करने के कारण आर्यसमाज विनयनगर ने उन्हें लांछित और अपमानित किया, तब से वे भी आर्यसमाज से पराङ्मुख हो बैठे हैं। लांछना और तिरस्कार का पात्र होकर आर्यसमाज से उदासीन हो जाना स्वाभाविक ही है।

आर्यसमाज में संन्यास नाम को कलांकित करने वाले धूर्तों की भी कमी नहीं है। अब तक हम समझते थे कि ढोंगी और पाखण्डी साधु सनातनधर्मी हिन्दुओं को ही प्रवञ्चित करते हैं, परन्तु अपने अनुभव के आधार पर हम कह सकते हैं कि आर्यसमाज में भी ऐसे संन्यासपद लांछन व्यक्ति हैं। हमने आर्यसमाज सरदारपुरा जोधपुर की वेदी से एक धूर्तराट् को व्याख्यान देते सुना जो अपने को डी०ए०वी० कालेज, देहरादून का भूतपूर्व प्रिन्सिपल, कई विषयों में एम०ए०, पी० एच० डी० तथा सार्वदेशिक सभा द्वारा जिसे सत्यार्थ प्रकाश का विदेशी भाषाओं में अनुवाद कार्य सौंपा गया है ऐसा प्रसिद्ध करता था, जिसने यह भी घोषणा कर रक्खी थी कि वह कई विदेशों में आर्यसमाज का प्रचार कर चुका है। जब हमने आर्यसमाज के अधिकारियों से उस व्यक्ति के विषय में शंका प्रकट की तो लोग उलटा हमें ही दोष देने लगे। अन्त में सार्वदेशिक सभा को उक्त ओमप्रकाश तीर्थ के विषय में घोषणा करनी पड़ी कि वह धूर्त और प्रवञ्ची है तथा उसे आर्यसमाज का मञ्च न दिया जावे। ऐसे न जाने कितने धूर्त व्यक्ति संन्यास का चोला पहने आर्यसमाजों में भ्रमण करते रहते हैं। एक दिल्ली के शिवाचार्य हैं जो जिस किसी समाज में जाएँगे वहाँ उनको पत्र द्वारा यह सूचित करेंगे कि वे सीधे आसाम से ईसाई विरोध का कार्य करते हुये आ रहे हैं।

बात यह है कि आज आर्यसमाजी अपने कर्त्तव्य से उन्मुख हो गये हैं तभी तो संन्यास आश्रम में तेजस्वी व्यक्तियों का अभाव हो गया। यह ठीक है कि संन्यास ग्रहण करना प्रत्येक सामान्य व्यक्ति

के लिए न तो शक्य है और न आवश्यक ही; उसके लिये तीव्र वैराग्य, उत्कट ब्रह्मजिज्ञासा और प्रचण्ड लोकानुराग की लगन चाहिये, परन्तु क्या आर्यसमाज के चोटी के विद्वान् और नेता चतुर्थ आश्रम ग्रहण कर लोक कल्याण में प्रवृत्त नहीं हो सकते ? आज आर्यसमाज के आश्रम सूने पड़े हैं। देहरादून का तपोवन आश्रम, अजमेर का ऋषि उद्यान, टंकारा कामहर्षि महालय, तथा ऐसे ही अन्य अनेक मनोरम स्थल हैं जहां रहकर आर्यसमाज का परिव्राजक वर्ग अनेक प्रकार की प्रवृत्तियों का संचालन कर सकता है। ऐसे स्थानों में उपदेशक प्रशिक्षण केन्द्र, अनुसंधान केन्द्र, संस्कृत विद्यालय आदि शतशः लोकोपयोगी संस्थाएँ चलाई जा सकती हैं, परन्तु सन्यासियों के अभाव में यह सब दिवास्वप्नवत् हैं। कहने को ज्वालापुर का वानप्रस्थाश्रम आर्यसमाज के तृतीय और चतुर्थ आश्रमवासियों का एक केन्द्र अवश्य है, परन्तु वहाँ के अधिकांश निवासी भी शांतिपूर्ण ढंग से कालक्षेप ही कर रहे हैं, आर्यसमाज में नवजीवन और नवस्फूर्ति का संचार करने के लिए उत्सुक वानप्रस्थ और संन्यासी आज आर्यसमाज में ढूंढ़ने पर भी दिखाई नहीं देते।

आर्यसमाज के वर्तमान संन्यासी त्रिविध ऐषणाओं से ऊपर उठ गये हैं, ऐसा प्रतीत नहीं होता। अनेक ऐसे हैं जो संन्यासी हो जाने पर भी अपने द्वितीय आश्रम के सम्बन्धियों के मोह और ममत्व से मुक्त नहीं हैं, अनेक संन्यासी नामधारी वित्तैषणा में पड़कर नष्ट हो रहे हैं। लोकैषणा से मुक्ति पाना तो और भी कठिन है। सभाओं और समाजों के उच्च पदों का मोह तथा आय जनता के नेतृत्व का मोह बड़े-बड़े संन्यास धुरीणों को भी सता रहा है। ऐसे व्यक्ति सभाओं और संगठनों पर नियन्त्रण रखने के लिये सभी प्रकार के उचित अनुचित कृत्य करते हैं तथा येन केन प्रकारेण अपनी गद्दियों को बनाये रखना चाहते हैं। ओजस्वी व्यक्तित्व और

तेजस्वी चरित्र के अभाव में ऐसे संन्यासी नामधारी व्यक्ति आर्य-समाज के संगठनों में उचित गौरव और सम्मान प्राप्त करने में असफल रहते हैं, तथा वहां आर्यसमाज के बाबू, लाला और सेठ टाइप के लोगों की शरण में रह कर जैसे तैसे अपनी प्रतिष्ठा बनाए रखना चाहते हैं। हम पौराणिक साधु संन्यासियों को परोंपजीवी (Parasites of Society) कहकर उनका उपहास करते थे, परन्तु क्या यह सत्य नहीं है कि आर्य समाज के अधिकांश भी आज आर्यसमाज के लिए बोझ मात्र बने हुए हैं, क्योंकि चरित्र, वैदुष्य, त्याग और लगन के अभाव में वे उसी प्रकार आर्य गृहस्थों को प्रवञ्चित कर रहे हैं जिस प्रकार दशनामी सन्यासी सनातनधर्मियों को।

आर्यसमाज में ऐसे संन्यासी ही आज अधिक हैं जो जीवन से हताश और निराश होकर इस पथ के पथिक बन गये हैं। उन्होंने संन्यास धर्म में दीक्षित होकर भी न तो आत्म कल्याण के लिए कुछ किया और न परोपकार के लिये ही कुछ कर सके। वृद्ध हो जाने पर ऐसे संन्यासी नामधरियों की दुर्दशा और भी अधिक होती है। वे यत्र तत्र आर्यसमाजी में औषधि, कम्बल आदि के लिये हाथ पसारते देखे जाते हैं। इनमें से अधिकांश रसनालोलुप भी होते हैं। लेखक एक ऐसे संन्यासी नाम धारी व्यक्ति को जानता है जो अपने यौवन काल में भजनीक था, जिसने बाद में संन्यास ले लिया और आर्यसमाज के एक स्वर्गीय विद्वान के साथ रह कर भजनोपदेश का कार्य करता रहा। उनके बारे में यह प्रसिद्ध था कि चतुर्थाश्रमी होंने पर भी वे अपनी जिह्वा पर नियन्त्रण नहीं कर सके हैं और सात दिन में जलपान का ७०) रु० का बिल बना देने के लिये ख्याति अर्जित कर चुके हैं।

कुछ उपयोएी सुझाव--

(१) आर्य संन्यासियों का एक सार्वभौम संगठन हो जो यह देखे

कि अनधिकारी व्यक्ति संन्यास मार्ग के पथिक बन कर दयानन्द के नाम पर बट्टा न लगायें ।

(२) रामकृष्ण मिशन के साधुओं तथा ईसाई Fathers की भांति ये आर्य संन्यासी भी अपने जीवन का एक ध्येय वैदिक धर्म का प्रचार स्वीकार करें तथा सर्वात्मना उसकी सिद्धि में लग जायें ।

(३) आर्यसमाज के साधु आश्रमों, वानप्रस्थ आश्रमों तथा अन्य स्थानों की सुचारु व्यवस्था की जाय तथा वहाँ त्यागी व्यक्तियों को रखकर उनका अधिकाधिक उपयोग लिया जाय । ऐसा न हो कि ऐसे स्थान केवल वर्ष में तीन चार दिन ऋषि मेले या ऐसे ही अन्य उत्सवों के अवसरों पर तो चहल पहल के केन्द्र रहें और वर्ष के शेष ३६० दिनों में वहां श्मशानवत् शान्ति रहे ।

(४) दयानन्द परिव्राजक मण्डल के अन्तर्गत संगठित साधु और संन्यासी संस्कृति और धर्म के प्रचारार्थ पूर्णतया प्रशिक्षित हों तथा प्रशिक्षण के उपरान्त वे ग्रामों को अपना केन्द्र बनाकर कार्य करें । भारत में लाखों ग्राम हैं जो आज आर्यसमाज के उदात्त, संदेश से वंचित होकर स्वार्थांध राजनीतिज्ञों द्वारा exploit किये जा रहे हैं। इन ग्रामों में रह कर आर्यसंन्यासी शिक्षा, चिकित्सा, धर्मोपदेश तथा जनसेवा द्वारा आर्यसमाज को जनमानस तक व्यापक होने में सहायता करें । यहाँ मैं आर्यसमाज शिवगंज को केन्द्र बनाकर कार्य करने वाले स्वामी चेतना नन्द जी का नाम उदाहरण रूप में प्रस्तुत करूंगा जो चिकित्सा, यज्ञ, साहित्य प्रचार आदि के द्वारा अपने क्षेत्र में उत्तम कार्य कर रहे हैं ।

(५) आर्यसमाज के उच्च कोटि के संन्यासी न केवल आर्य जनता का ही अपितु समग्र मानव समाज का नेतृत्व कर सकते हैं। यदि वे सच्चे अर्थों में जनता की आध्यात्मिक पिपासा शान्त कर सकें तो मुमुक्षु लोग पौराणिक संन्यासियों के बदले उनसे ही निवृत्ति मार्ग की दीक्षा लेंगे ।

अध्याय—१३

आर्यसमाज का पण्डित वर्ग

आर्यसमाज के लिये यह अत्यन्त गौरव की बात रही है उसने देश को उच्चकोटि के पण्डित और विद्वान् प्रदान किये हैं। स्वयं आर्यसमाज के प्रवर्तक ऋषि दयानन्द अपने अगाध वैदुष्य और तलस्पर्शी पाण्डित्य के कारण आधुनिक धर्मान्दोलनकारी सुधारकों के शिरोमणि समझे जायेंगे। स्वामी जी के निर्वाण के पश्चात् भी आर्यसमाज ने ज्ञान ज्योति को जलाये रक्खा। आर्यसमाज के प्रारम्भिक काल के लोगों में अपूर्व ज्ञान पिपासा थी। वे अपने गुरु की आज्ञाओं का शब्दशः पालन करना चाहते हैं तभी तो हम देखते हैं कि सारी आयु उर्दू और फारसी के वातावरण में व्यतीत करने वाले लाल सांईदास तथा आर्यसमाज लाहौर के अन्य वयोवृद्ध सभासद युवा मुनि गुरुदत्त के चरणों में बैठकर अष्टाध्यायी व्याकरण पढ़ते थे। आर्यसमाज के इस शैशव काल में पण्डित गुरुदत्त, म० म० आर्यमुनि, लेखराम, तुलसीराम स्वामी जैसे दिग्गज पण्डित उत्पन्न हुये जिन्होंने अपनी विद्वता की धाक केवल इस देश के जन समाज पर ही नहीं अपितु यूरोप और अमेरिका की विद्वत् मण्डली पर बिठा दी। पं० गुरुदत्त ने वेदों का जैसा अनुशीलन किया तथा वेद विषयक यूरोपीय धारणाओं पर आघात किया वह सचमुच अपूर्व था।

परन्तु आज स्थिति बदल गई है। आर्यसमाज में पाण्डित्य का ह्रास हो रहा है। पुराने खेमे के विद्वान् एक एक कर धराधाम को छोड़ रहे हैं, परन्तु उनका स्थान लेने के लिये नई पीढ़ी के लोग नहीं आ रहे हैं। आज आर्यसमाज को विशिष्ट विषयों के विशेषज्ञ विद्वान्

चाहियें जो अपने २ क्षेत्र के महारथी हों तथा जो विशिष्ट साहित्य रचकर आर्यसमाज के सारस्वत भण्डार की अभिवृद्धि करें। अन्य मतों तथा पंथों के जानकार, तुलनात्मक धर्मों का अध्ययन करने वाले विद्वानों की भी आवश्यकता है। एक समय था जब कि आर्य-समाज में पं० मनसाराम वैदिक तोप, पं० बुद्धदेव मीरपुरी, पं० शिवशर्मा, पं० तुलसीराम स्वामी जैसे पौराणिक धर्म के विशेषज्ञ विद्वान थे। स्वामी दर्शनानन्द ने अकेले ही जैन, ईसाइयत तथा इस्लाम का गूढ़ अध्यनन किया तथा तद्विषयक प्रचुर साहित्य का निर्माण किया परन्तु आज आर्यसमाज के क्षेत्र में कितने ऐसे विद्वान् हैं जिनको जैन दर्शन का पारदर्शी ज्ञान है ? पं० ईश्वर चन्द जी दर्शनाचार्य जैसे विद्वान् आज बम्बई में जैन साधुओं को संस्कृत पढ़ा-कर जीविकार्जन कर रहे हैं ? क्या आर्यसमाज इतना निःसत्व और दरिद्र हो गया है कि वह अपने पण्डितों को जीविकोपार्जन से निश्चिन्त कर उनका लाभ नहीं ले सकता ? आज ईसाई मत के कितने विशेषज्ञ विद्वान् आर्यसमाज में हैं। कितने ऐसे हैं जिन्होंने हिब्रू, लैटिन, ग्रीक आदि भाषायें पढ़ कर ईसाई, यहूदी आदि सामी मजहबों का विशेष ज्ञान प्राप्त किया है। इस्लाम के मर्मज्ञ शास्त्रार्थ महारथी पं० रामचन्द्रजी देहलवी भी शायद अपने युग की अन्तिम कड़ी थे। उनके पश्चात् उनका स्थान लेने वाला कोई नहीं रहा। पौरस्त्य और पाश्चात्य धर्म, नीति, दर्शन आदि का तुलनात्मक अध्ययन करने वाले विद्वान् आर्यसमाज में नगण्य से हैं।

आज आर्यसमाज में जो कुछ विद्वान् सौभाग्य से हमारे बीच विद्यमान हैं भी, उनका भी कोई संगठन न होने से वे उपयोगी कार्य करने में असमर्थ हैं। अच्छे ० कर्मठ विद्वान् मतभेद के कारण भूत-काल में आर्यसमाज से पृथक् हो गये और उन्होंने अपने २ स्वतन्त्र कार्यक्षेत्र खोल दिए। पं० सातवलेकर, पं० विश्वबन्धु शास्त्री आदि इसके उदाहरण हैं। यदि ये आर्यसमाज के अनुशासन में ही रहते तो

सम्भव नहीं था कि वेद विषयक इतना कार्य कर पाते जितना कि उन्होंने स्वाध्याय मण्डल, तथा विश्वेश्वरानन्द रिसर्च इन्स्टीट्यूट जैसी संस्थाओं की स्थापना कर स्वतन्त्र रूप से किया। कारण यह है कि आर्यसमाज में विद्वानों को प्रोत्साहन की अपेक्षा तिरस्कार ही अधिक मिलता है।

फिर भी आर्यसमाज के कुछ विद्वानों पर हम गर्व कर सकते हैं। पं० भगवद्दत्त जी जैसे वैदिक विपश्चित, जिनके इतिहास ज्ञान तथा स्वच्छ अनुसंधान दृष्टि का लोहा पाश्चात्य वैदिक लोग भी मानते थे। वैयाकरण केसरी, पदवाक्य प्रमाणज्ञ, तपोमूर्ति पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु जैसे ब्रतनिष्ठ विद्वान् भी थे जिनका राष्ट्रस्तर पर सम्मान हुआ। सारस्वत साधना में अपना समग्र जीवन होम देने वाले पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक जैसे धुन के धनी लोग भी हैं जो अपनी विद्वतापूर्ण कृतियों के कारण आर्यसमाजेतर क्षेत्रों में भी वंदित हुये हैं तथा जो अपनी ब्राह्मणोचित सौम्यता और निरीहती वश सारी ख्याति तथा लौकेषणा से दूर रह कर अपने कार्य में ही लगे रहते हैं। यदि ऐसे विद्वान् संस्थाओं के चक्कर में पड़ जाएँ तो निश्चय ही वे ऐसा कार्य नहीं कर सकते जैसा कि वे अब तक कर पाये हैं। विशाल अध्ययन तथा स्वच्छ सैद्धान्तिक सूझ रखने वाले पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड तथा विचित्र ऊहा के धनी स्व० पं० बुद्धदेव जी विद्यामार्तण्ड (स्वामी समर्पणानन्द) पर भी आर्यसमाज उचित गर्व कर सकता है। एक ओर यदि उपर्युक्त पण्डित मण्डली आर्यसमाज में है या थी जिससे वस्तुतः ही समाज का मस्तक उन्नत हुआ है तो दूसरी ओर ऐसे अहम्मन्य और पण्डितमन्य विद्वानों का भी आर्यसमाज में अभाव नहीं है जो अन्य पण्डितों की पगड़ी उछालने में ही अपने कर्त्तव्य की समाप्ति समझ बैठे हैं।

आज आर्यसमाज में शास्त्रार्थ महारथी विद्वान् भी समाप्त हो रहे हैं। अमर स्वामी तथा पं० बिहारीलाल शास्त्री के साथ शास्त्रार्थकर्त्ताओं की परम्परा समाप्त हो जायगी। परन्तु आर्यसमाज के विरोधी निरन्तर जागरुक हैं। माधवाचार्य ने अपने पुत्र प्रेमाचाय

को अपना स्थानापन्न बना दिया है। दीनानाथ शास्त्री 'सारस्वत' विशाल सनातनधर्मालोक लिखकर मृत सनातनधर्म में प्राणप्रतिष्ठा करने का उद्योग कर रहा है। आज आवश्यकता इस वात की है कि आर्यसमाज की विपश्चित् मण्डली स्वयं अपने कर्त्तव्य को समझे।

अब उन्हें श्रम वर्गीकरण (Discision of labour) के सिद्धान्त पर आरूढ़ होकर कार्य करना होगा। वेद का कार्य पं० विश्वनाथ विद्यालंकार, पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड को सौंपा जा सकता है। ये लोग पाश्चात्य तथा सायणमतानुगमिनी वेदार्थ शैली के विरोध में आर्यसमाज के वेद विषयक दृष्टिकोण को उच्च बौद्धिक धरातल पर प्रस्तुत करें। इसी प्रकार पं० उदयवीर शास्त्री स्वामी ब्रह्ममुनि, पं० ईश्वरचन्द्र जी दर्शनाचार्य आदि को दर्शनों का कार्य सौंपा जा सकता है। वे षड्दर्शन विषयक अर्यासमाजीय दृष्टिकोण का ठोस आधार पर प्रतिपादन कर दर्शन के क्षेत्र में नूतन क्रान्ति उत्पन्न कर सकते हैं। निरुक्त, व्याकरण, छन्द कल्प आदि का कार्य पं० युधिष्ठिर मीमांसक कर सकते हैं। कर्मकाण्ड का मर्म जितना पं० वीरसेन जी वेदश्रमी तथा स्वामी ब्रह्मानन्द जी दण्डी आदि जानते हैं, उतना शायद अन्य नहीं। आर्यसमाज में किये जाने वाले यज्ञ यागादि ऐसे विद्वानों को देख-रेख में ही होने चाहियें। इसी प्रकार खण्डन मण्डन तथा विरोधियों को पुरअसर जवाब देने का मेहकमा भी व्यवस्थित रूप से काम करे। पौराणिक, जैन, बौद्ध, इस्लाम, ईसायत, आदि के विशेषज्ञ पण्डित तैयार किए जायें।

आर्यसमाज में लेखकों, विद्वानों, विचारकों, पत्रकारों तथा नये कार्यकर्त्ताओं की जो पीढ़ी पनप रही है, वह यदि संगठित हो जाय तो आर्यसमाज के मृत शरीर में नये प्राण फूंके जा सकते हैं। यदि आर्यसमाज के गम्भीर विचारक किसी स्थान पर एकत्रित होकर पर्याप्त समय तक समस्या की गम्भीरता पर विचार करें तथा कोई ठोस रचनात्मक कार्यक्रम बनाएँ तो अवश्य ही वे आर्य जनता का उचित मार्गदर्शन कर सकते हैं।

अध्याय—१४

आर्यसमाज में वेदानुसंधान की स्थिति

वेद के विषय में आर्यसमाज का एक निश्चित दृष्टिकोण है जिसे वह अपने जन्म काल से ही प्रतिपादित करता रहा है। आर्य समाज के विद्वानों ने अपने ग्रन्थों द्वारा महर्षि दयानन्द के वेद विषयक मत को पुष्ट किया और उसे निर्भ्रान्त सिद्ध किया। वेद विषयक अनुसंधान कार्य आर्यसमाज का एक ऐसा अनिवार्य कर्त्तव्य है जिसे किसी भी अवस्था में छोड़ा नहीं जा सकता। आज वेद के विषय में दो विचारधारायें संसार में प्रचलित हैं। एक है वेदों के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों का दृष्टिकोण जो विकासवाद, भाषा विज्ञान, देवमालावाद (mythology) जैसे कल्पित मतवादों पर आश्रित है, जो यह मानकर चलता है कि वेद उन आर्यों के धर्मग्रन्थ और प्रार्थना पुस्तक हैं जो आज से २५०० वर्ष पूर्व मध्य एशिया से भारत के उत्तरी भाग में आये और यहां के मूल निवासियों को परास्त कर उन्होंने अपने उपनिवेश बनाये। इनके अनुसार वेदों में प्राकृतिक तत्वों की पूजा, अश्लीलता, अस्पष्टता, जादू टोना आदि के पुरातन विश्वास तथा इसी प्रकार की अन्य सामग्री पाई जाती है। द्वितीय दृष्टिकोण उन परम्पराग्रस्त वैदिक पण्डितों का है जो सायण आदि मध्ययकालीन भाष्यकारों की विचार सरणि का अनुसरण करते हुए वेद की अपौरुषेय कृति तो मानते हैं, परन्तु उसे केवल याज्ञिक क्रियाकलापों के विधान के रूप में ही स्वीकार करते हैं।

आर्यसमाज का दृष्टिकोण निश्चित रूप से दोनों से भिन्न है। वह वेद को ईश्वरीय ज्ञान स्वीकारते हुए सब विद्याओं का भण्डार तथा मनुष्य जाति के लिये पथप्रदर्शक मानता है। प्रस्तुत लेख में आर्यसमाज के वेद विषयक दृष्टिकोण का विशद विश्लेषण करना

हमारा अभिप्राय नहीं है। हमें आर्यसमाज में वेदानुसंधान के कार्य का मूल्यांकन करना है तथा यह देखना है कि वह अपने वेद विषयक दायित्व के प्रति कितना जागरूक है। समय-समय पर आर्यसमाज की दायित्वपूर्ण संस्थाओं ने वेदानुसंस्थान विषयक कुछ समारम्भों का प्रारम्भ किया परन्तु वे उचित फल नहीं दे सके। इसमें मूल कारण आर्यसमाज के नेतावर्ग की उपेक्षा तथा प्रमाद ही है। पाठकों को स्मरण होगा कि १९५९ के दिसम्बर में महर्षि दयानन्द दीक्षा शताब्दी का महोत्सव मथुरा में मनाया गया, जहां स्वर्गीय राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद के करकमलों से विरजानन्द वैदिक अनुसंधान केन्द्र का शिलान्यास कराया गया। अनुसंधान कार्य को आरम्भ करने तथा आवश्यक भवन आदि बनाने के लिये अपील की गई। आर्य-समाज के श्रेष्ठिप्रवर तथा वर्तमान में सार्वदेशिक सभा के प्रधान श्री प्रतापसिंह ने एक लाख रुपया देने की घोषणा की। उपस्थित आर्य जनता ने भी मुक्तहस्त होकर दान दिया। लगभग पांच लाख रुपये का आश्वासन मिला। प्रसन्नता की बात है कि पण्डित प्रकाशवीर जी शास्त्री के सत्प्रयत्न से इस स्मारक में अनुसन्धान कार्य प्रारम्भ किये जाने की सम्भावनायें सुनिश्चित हो गई हैं।

आर्यसमाज में वेदानुसन्धान के कार्य को गति देने के आन्दोलनात्मक नारे तो समय समय पर प्याले में तूफान की भांति कई बार लगाये गये हैं परन्तु उनका फल कुछ भी नहीं निकला। टंकारा में महर्षि महालय की स्थापना, पण्डित अयोध्या प्रसाद जी का पुस्तकालय वहां आ जाना, टंकारा में ट्रस्ट के भू० पू० मन्त्री पण्डित आनन्दप्रिय जी की वैदिक अनुसन्धान कार्य को प्रारम्भ किये जाने के लिये व्यग्रता, यह सभी बातें अत्यन्त अनुकूल हैं, परन्तु आर्य समाज में त्याग भाव से कार्य करने वाले पण्डित वर्ग का ही इतना अभाव है कि टंकारा में अनुसन्धान कार्य की सन्तोषजनक प्रगति नहीं हो रही है।

जिन लोगों ने आर्यसमाज से पृथक् रहकर अपना वैदिक अनु-

सन्धान कार्य किया, वे पर्याप्त सफल हुए हैं। मैं सातबलेकर जी के वेद संस्थान तथा पण्डित विश्वबन्धु शास्त्री के विश्वेश्वरानन्द वैदिक रिसर्च इन्स्टीट्यूट का उदाहरण अकसर देता हूं। यदि यही कार्य आर्यसमाज के अनुशासन की परिधि में रह कर किया जाता तो इतनी सफलता इनके विधायकों को नहीं मिलती, क्योंकि आर्यसमाज में आलोचना प्रत्यालोचना की प्रवृत्ति सीमा का अतिक्रमण कर चुकी है जो किसी भी विधेयात्मक या रचनात्मक प्रवृत्ति में सहायक नहीं हो सकती। अधिक बोलने और काम करने वाले आर्यसमाजी नेता यदि भाण्डारकार रिसर्च इन्स्टीट्यूट ता विश्वेश्वरानन्द संस्थान के विशाल कार्य तथा उनकी बहुमुखी प्रवृत्तियों से कुछ शिक्षा ग्रहण करें तो श्रेयस्कर होगा।

आज भारत में ईसाई, जैन, बोद्ध तथा इस्लाम आदि मतों तथा सम्प्रदायों के धर्म, तत्वदर्शन तथा विचारधारा के विषय में अनेक प्रकार के अनुसन्धान कार्य बड़े पैमाने पर हो रहे हैं। वैशाली (बिहार) में जैन अनुसन्धान हेतु कार्य कर रहा है। दिल्ली में सरकार के सहयोग से अहिंसा विषयक अनुसन्धान केन्द्र तथा पुस्तकालय की स्थापना हो चुकी है। इस्लामी संस्कृति विषयक अनुसन्धान केतु के गढ़ अलीगढ़ तथा देवबन्द में वर्षों से क्रिया शील हैं। सनातनी, सिख तथा अन्य तेरापंथी, राधा स्वामी जैसे अलमतों वाले भी अपने अपने मतों के प्रचार में संलग्न हैं। केवल "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" का नारा लगाने वाले आर्यसमाजी ही वेद विषयक अनुसन्धान कार्य के प्रति उदासीन हैं। क्या हमारी ये पंक्तियां उन लाखों आर्यों के हृदय में वेद विषयक उपेक्षावृत्ति तथा प्रमाद को त्यागने की भावना पैदा कर सकती हैं, तथा क्या इस लेख से उन्हें यह प्रेरणा मिलेगी कि वे अपने नेताओं को इस बात के लिये विवश करें कि वे अपने पारस्परिक झगड़ों को त्यागकर एक मत हों तथा एक केन्द्रीय वेदानुसंधान संस्थान की स्थापना कर शीघ्र ही वेद के विषय में आर्यसमाज के दृष्टिकोण को विश्व में फैला दें।

अध्याय—१५

साहित्य निर्माण और प्रकाशन

साहित्य विचारों का वाहक होता है। आज के युग में प्रेस और प्लेटफार्म ही ऐसे साधन हैं जिनसे विचारों के प्रसार में सहायता ली जा सकती है। खेद है कि आर्यने प्लेटफार्म का तो पूरा उपयोग लिया परन्तु प्रेस की उपेक्षा की। अमर शहीद लेखराम की अन्तिम इच्छा को हम पूरा नहीं कर सके जिन्होंने कहा था कि आर्यसमाज में लेखन का काम बन्द नहीं होना चाहिये। आज हमारी लेखनी कुंठित हो गई है। आर्यसमाज के प्रवर्तक ने अपने अत्यन्त व्यस्त जीवन में साहित्य प्रणायन के लिये पर्याप्त समय निकाला और अल्प अवधि में ही सहस्रों पृष्ठों का साहित्य हमारे लिये विरासत के रूप में छोड़ गये। स्वामी जी के पश्चात् पं. गुरुदत्त, स्वामी श्रद्धानन्द, पं. राजाराम, पं. आर्यमुनि, पं. तुलसीराम स्वामी, पं. चमूपात आदि विद्वानों ने साहित्य प्रणयन के क्षेत्र में अपूर्व कार्य किया और सहस्रों उच्चकोटि के ग्रन्थों से आर्यसमाज के सारस्वत भण्डार को अभिवृद्ध किया। परन्तु धीरे धीरे आर्यसमाज का नेतृत्व दुर्बल होता गया। संस्थावाद के जटिल चक्र में हम ऐसे फँस गए कि हमने आर्यसमाज में साहित्य की अभिवृद्धि के महत्त्व को समझना ही नहीं चाहा। परिणाम स्पष्ट है, आज आर्यसमाज में स्व. ब्रह्ममुनि तथा स्व. पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय को छोड़कर ऐसा कोई साहित्य सर्जक हमें दृष्टिगोचर नहीं होता जिसकी रचनाओं पर हमें उचित गर्व कर सकें।

यह बात नहीं कि साहित्य रचना और प्रकाशन में प्रश्न को आर्यसमाजी क्षेत्रों में महत्त्व न दिया जाता हो। समय समय पर

साहित्य रचना और प्रकाशन को लेकर सभाओं तथा सम्मेलनों में बड़े जोर शोर से विचार विमर्श हुए हैं, प्रस्ताव पास हुए हैं। परन्तु परिणाम् कुछ नहीं निकला। मुझे स्मरण है कि १९६१ की मई में दिल्ली में जो नवम् आर्यमहासम्मेलन हुआ उसकी पृष्ठभूति में आर्य-समाज की साहित्यिक दरिद्रता और उसे दूर करने के उपायों को लेकर काभी प्रचार हुआ था। सम्मेलन में इस विषय का एक प्रस्ताव भी स्वीकृत हुआ परन्तु महासम्मेलन को विधाताओं ने शायद प्रस्ताव पास करने तक ही अपने कर्त्तव्य को परिसीमित कर लिया था। साहित्य निर्माण का कोई प्रभावशाली कदम नहीं उठाया गया।

आर्यसमाज जैसे जन आन्दोलन के लिए जो केवल इस देश के ही नहीं सम्पूर्ण मानव जाति के योगक्षेम के वहन करने का दायित्व लेता है, साहित्व की यह उपेक्षा घातक है। आज हम देख रहे है कि भारत में पनपने वाले—नाना मतमतान्तर तथा राजनैतिक दल प्रभाव पूर्ण साहित्य के प्रचार और प्रसार अपनी विचारधारा को जनमानस तक व्यापक बना रहे हैं। कुछ उदाहरण देना अनुपयुक्त नहीं होगा। सनातनी विचारधारा को पोषक गीता प्रेस, करोड़ों रुपयो का साहित्य प्रतिवर्ष प्रकाशित करता है। उनकी विचारधारा से हम चाहे कितने ही असहमत क्यों न हों, हमें यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि गीता प्रेस द्वारा प्रकाशित साहित्य अपनी छपाई, सफाई गैटअप आदि की दृष्टि से अनुकरणीय है। ईसाई प्रचारकों के साहित्य का भी अपना स्तर है। प्रद्येक देश में बाइबिल की सोसाइटियां संगठित हैं जो विश्व की प्रत्येक भाषा में बाइबिल का प्रकाशन करती हैं। North India Christian Book and Tract society के द्वारा अब तक सहस्रों प्रकार के ट्रैक्ट हिन्दू धर्म के खण्डन में प्रकाशित हो चुके हैं। साम्यवादियों का साहित्य प्रकाशन कार्य अत्यन्त व्यवस्थित है। उनका बम्बई स्थित जन प्रकाशन गृह वर्षों से साम्यवादी विचारधारा के कीटाणुओं को

साहित्य के माध्यम से जनता की रक्तवाहिनी नलिकाओं में प्रसारित कर रहा है। हम अधिक दूर क्यों जायें कुछ समय पूर्व ही स्वामी विवेकानन्द की जन्म शताब्दी सारे विश्व में धूमधाम से मनाई गई। रामकृष्ण मिशन का साहित्य अत्यन्त सुरुचिपूर्ण ढंग से देश विदेश की अनेक भाषाओं में प्रकाशित होता है। उच्चस्तरीय समाज के लोग उसको पढ़ते हैं। विवेकानन्द शताब्दी के अवसर पर सम्पूर्ण विवेकानन्द साहित्य की सुन्दर ढंग से एक ही ग्रन्थावली के अन्तर्गत प्रकाशित किया गया।

आर्यसमाज को तो कार्यक्षेत्र में आये आज १०० वर्ष के लगभग समय व्यतीत हो गया। कल का जैन सम्प्रदाय का तेरापंथी फिर्का, जिसकी धार्मिक मान्यतायें अत्यन्त संकीर्ण और अनुदार हैं, आज साहित्य के माध्यम द्वारा अपनी विचारधारा को विभिन्न क्षेत्रों में फैला रहा है। आत्माराम एण्ड सन्स जैसा हिन्दी पुस्तकों का ख्यातनामा प्रकाशक तेरापंथी साहित्य को प्रकाशित करने में गर्व अनुभव करता है जबकि मूलतः आर्यसामाजिक साहित्य का प्रकाशक बनकर कर्मक्षेत्र में आने वाला राजपाल एण्ड सन्स आज आर्य साहित्य के प्रकाशन का कार्य लगभग बंद कर उपन्यासों और हिन्दी के जनरल ग्रन्थों का प्रकाशन बन गया है। क्या आर्यसमाज के नेताओं ने कभी इस प्रश्न पर सोचा भी है। ले देकर आज दो-चार ही आर्यसमाजी पुस्तक प्रकाशक रह गये हैं।

ऐसी परिस्थिति में क्या किया जाय? हमारी सम्मति में सार्वदेशिक सभा के तत्वावधान में एक केन्द्रीय आर्य साहित्य संस्थान की स्थापना होनी चाहिए जो आर्य जगत् के श्रेष्ठ साहित्य को पूर्ण दायित्व के साथ मुद्रित करे तथा उसका व्यापक प्रचार करे। सार्वदेशिक सभा के अनुशासन में रहने वाला प्रत्येक आर्यसमाज इस साहित्य को क्रय करने के लिये बाध्य होगा। तब तक पुस्तक का १०००० का संस्करण भी आसानी से खप सकेगा। दुःख तो यह है

कि विश्व के आर्यों की शिरोमणि सभा के पास एक अपना प्रेस भी नहीं है। सार्वदेशिक प्रकाशन लिमिटेड का कार्य जो आरम्भ किया गया था, वह भी गत्यवरोध के कारण समाप्त हो गया प्रतीत होता है।

आर्यसमाज की कुछ सभायें और संस्थायें छोटे छोटे ट्रैक्ट प्रकाशित कर यह समझती हैं कि उन्होंने साहित्य प्रणयन के कार्य में अपूर्व प्रगति की है, परन्तु यह उनका शुद्ध भ्रम है, १६ या २४ पृष्ठों के ट्रैक्टों का अपना महत्व हो सकता है, परन्तु वे उस गुरु गम्भीर, विस्तृत विवेचन और विश्लेषण प्रधान साहित्य का स्थान नहीं ले सकते जिसके आधार पर किसी विचारधारा के स्थायित्व और महत्व का प्रतिपादन किया जाता है। आज आवश्यकता इस बात की है कि सामान्य तथा अल्प शिक्षित जनता में विचारों के प्रचार के लिए अल्पमोली ट्रैक्टों का सहारा लिया जाय, वहाँ साथ ही गम्भीर पाठकवर्ग के लिए विशद विवेचना युक्त गम्भीर ग्रन्थों का प्रणयन और प्रकाशन भी हो। अगर ट्रैक्टों से ही काम निकल जाता तो शायद ऋषि दयानन्द सैंकड़ों पृष्ठों का पोथा सत्यार्थप्रकाश नहीं लिखते। अस्तु।

आज आर्यसमाज में साहित्यिक प्रतिभाओं का अभाव नहीं है। धर्म, दर्शन, सिद्धान्त, तत्वज्ञान, तुलनात्मकधर्म आदि विषयों पर आर्यसमाज के दृष्टिकोण से विवेचनात्मक ग्रन्थ लिखने वाले लेखक आर्यसमाज में हैं, परन्तु वे जानते हैं कि यदि वे कुछ लिखेंगे भी तो प्रकाशन के अभाव में उनकी पाण्डुलिपियां क्षयग्रस्त हो जाएँगी। व्यावसायिक प्रकाशन ग्रन्थ के महत्व की अपेक्षा उसके बिक्री के प्रश्न को ज्यादा महत्व देते हैं और वेद प्रचार के नाम पर मंचों से व्याख्यान दिलाने वाली प्रतिनिधि सभायें चाहें लाखों रुपया उत्सवों के नाम पर फूंक दें, परन्तु कुछ हजार व्यय कर किसी उत्तम ग्रन्थ

को छपाने में हिचकिचाती है। अगर कोई साहस करता भी है तो १६ पेजी ट्रैक्ट को छपाने के लिए तैयार हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में यदि आर्यसमाज यह समझता हो कि उसका संदेश देश-विदेश के प्रबुद्ध समाज तक पहुंच सकेगा तो वह मूर्खों के स्वर्ग में निवास करता है। देश की प्रान्तीय भाषाओं तथा अंग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं में उत्तम साहित्य प्रकाशित करना तो दूर रहा अभी तो आर्यसमाज का हिन्दी भाषा में रचित साहित्य ही शैशवावस्था में हैं।

अध्याय—१६

आर्यसमाज की पत्र पत्रिकायें

(भवानीलाल भारतीय)

आज के युग में पत्र पत्रिकाओं का प्रभाव सर्वविदित है। आर्य-समाज अपने जीवनकाल से ही पत्रों के द्वारा सैद्धान्तिक प्रचार का कार्य करता आ रहा है। स्वामी दयानन्द ने अपने जीवनकाल में ही 'भारत सुदशाप्रतर्तक' नामक पत्र का प्रकाशन फर्रुखाबाद से कर-वाया। मुन्शी बख्तावरसिंह के सम्हादन में प्रकाशित होने वाला 'आर्य दर्पण' भी महर्षि के काल का एक प्रमुख पत्र था। पं० लेखराम पं० गुरुदत्त, स्वामी श्रद्धानन्द, पं० भीमसेन शर्मा तथा पं० तुलसी-राम स्वामी आदि पुराने आर्य नेताओं ने भी क्रमश: धर्मोपदेश, रीजे-नेरेटर ऑफ आर्यावर्त, सद्धर्म प्रचारक, आर्य-सिद्धान्त तथा वेदप्रकाश जैसे पत्रों के द्वारा वेद के सन्देश को दिगन्तव्यापी बनाया।

आज भी संख्या की दृष्टि से आर्यसामाजिक पत्रों की कमी नहीं है। लगभग दो दर्जन पत्र पत्रिकाएं आर्य समाजी केन्द्रों से प्रकाशित होती हैं। परन्तु इनकी दशा को देखकर रोना आता है। न तो ये पत्र आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर हैं, और न इनमें उपयुक्त सामग्री ही प्रकाशित होती है। अधिकाँश पत्र प्रतिनिधि सभाओं के मुख पत्र (गजट) हैं जिनमें सभा के पदाधिकारियों का ही संस्तवन रहता है। इन पत्रों की ग्राहक संख्या अत्यन्त न्यून होती है, और इनके आर्थिक घाटे को सभाओं के अतिरिक्त अनुदान द्वारा पूरा किया जाता है। मैं वर्षों से आर्यसमाज के पत्रों का नियमित पाठक हूं। देखता हूं कि सभा के पदाधिकारियों के बदलने के साथ ही इनके सम्पादक भी बदल जाते हैं। कारण यह है कि सभा का नवनिर्वाचित मन्त्री चाहता है कि सभा के मुखपत्र के सम्पादक के स्थान पर उसका नाम

छपे, अतः निबर्तमान मन्त्री के स्थान रिक्त करते ही पत्र के सम्पादक का नाम भी बदल जाता है। आए दिन की इस रद्दोबदल से पत्र की नीति तथा उसकी परम्परा का प्रभावित होना अवश्यम्भावी है।

आर्यसमाज के पत्रों का क्षेत्र अत्यन्त सीमित है। बहुत कम लोगों तक वे पहुँच पाने हैं। यह बात नहीं कि धार्मिक पत्रों के पाठकों का का देश में अभाव हो। 'कल्याण' लाखों की संख्या में छपता है। विशिष्ट सम्प्रदाय और मत पत्रों की पत्र पत्रिकायें भी सन्तोषजनक ढंग से पाठकों को अपनी ओर आकर्षित करती हैं। पुनः आर्यसमाज के पत्र ही क्यों पिछड़े हुए हैं, इस पर हमें विचार करना पड़ेगा। आर्येतर लोगों द्वारा पढ़ा जाना तो दूर, विडम्बना तो यह है कि आर्यसमाज को पत्र पत्रिकाओं को आर्यसमाजियों से भी पूर्ण प्रोत्साहन नहीं मिलता। सभाओं के गजट होने के नाते ये पत्र आर्यसमाजों में जाते अवश्य हैं, परन्तु कहीं २ तो समाजों के मन्त्री व प्रधान भी उन्हें नहीं पढ़ते। आर्यसमाज का शायद ही कोई पत्र हो जो किसी सार्वजनिक वाचनालय में मंगाया जाता है।

अपने १०० वर्ष के जीवन में आर्यसमाज एक भी दैनिक पत्र सफलतापूर्वक नहीं निकाल सका। आर्यमित्र दैनिक का प्रयोग अवश्य किया गया, परन्तु वह बुरी तरह असफल रहा, परन्तु वह बुरी तरह असफल रहा, पुनः हम किस मुंह से विश्व के आर्यकरण का नारा लगाते हैं जब कि आर्यकरण का नारा लगाते हैं जब कि आर्यसमाज की विचारधारा को जनव्यापिनी बनाने के लिए हमारे पास दैनिक पत्र जैसा एक भी सशक्त साधन नहीं है। यही हाल अंग्रेजी पत्रों का है। अपनी उत्कृष्ट बौद्धिकता का दावा करने वाले आर्यसमाज के लिए अंग्रेजी जैसी विश्वव्यापी भाषा में एक भी उत्कृष्ट पत्र न निकाल सकना लज्जा की बात है। प्रान्तीय भाषाओं की स्थिति तो और भी शोचनीय है। शायद ही गुजराती के 'आर्य प्रकाश' के अतिरिक्त और कोई आर्यपत्र हो जो भारत की किसी प्रान्तीय भाषा में निकलता हो। जब हम बंगला, मराठी और गुजराती जैसी

आर्यसभाओं में ही पत्र नहीं प्रकाशित कर सकते तो तामिल, तेलुगु आदि द्रविड़ भाषाओं की तो बात ही क्या ?

आर्यसमाज के पत्रों में कुछ अपवादों को छोड़कर पठनीय सामग्री की दरिद्रता रहती है। लेखकों को यतः आर्यसमाज कोई प्रोत्साहन नहीं देता इसलिए आर्यसमाज के श्रेष्ठ लेखक भी अपनी रचनाएँ इन पत्रों में भेजने में संकोच करते हैं। ऐसी परिस्थित में बेचारे सम्पादक भर्ती की सामग्री से ही पत्र के कलेवर को पूरा करते हैं। अधिकांश पृष्ठ सभा सूचनाओं, सभासमाजों की हलचलों, संस्कार सूचनाओं तथा शोक समाचारों से रंगे रहते हैं जिनके लिए आर्यसमाजेतर पाठक को कोई आकर्षण नहीं हो सकता। स्त्रियों, बच्चों, युवकों आदि के लिए भी कोई मसाला इन पत्रों में नहीं मिलता। आर्य लेखकों का न तो कोई संगठन ही है और न उनका कभी परस्पर मेल जोल ही होता है, इसलिए आर्य पत्रों के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए वे अपने सुझाव देने में असमर्थ होते हैं। पत्रों की आर्थिक स्थिति खराब होने के कारण रचनाओं के पारिश्रमिक देने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। उल्टा डाक व्यय लेखक के माथे पड़ता है। ऐसी स्थिति में अच्छे लेखकों का सहयोग इन पत्रों को न मिले तो आश्चर्य ही क्या ?

कुछ सुझाव—

(१) आर्यसमाज का एक प्रभावशाली दैनिक पत्र प्रकाशित हो जो सामान्य समाचारों के साथ २ आर्यसमाज के दृष्टिकोण को जनता तक पहुँचाए। इसका प्रकाशन आर्यों की शिरोमणि सभा करे तथा देश का प्रत्येक आर्य इसका ग्राहक बने।

(२) अंग्रेजी में एक उच्चकोटि का मासिक पत्र निकाला जाए, जो आर्यसमाज के वेद सम्बन्धी सैद्धान्तिक दृष्टिकोण को अंग्रेजी भाषा के पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर सके। यह अनुसंधान पत्रिकाओं (Research Magazine) के स्तर का हो। इसका सम्पादक अंग्रेजी भाषा पर अधिकार सम्पन्न कोई प्रौढ़ वैदिक विद्वान् हो।

(३) संस्कृत के प्रचार का दावा रखने वाले आर्यसमाज की एक

गुरुकुल पत्रिका को छोड़कर अन्य कोई संस्कृत पत्रिका नहीं है। अतः संस्कृत के पत्र का प्रकाशन भी आवश्यक है।

(४) विभिन्न प्रतिनिधि सभाओं के मुख पत्रों के रूप में प्रकाशित होने वाले पत्र अपने कलेवर को अधिक सशक्त और प्राणवान बनायें। अधिक अच्छा तो यह हो कि पारस्परिक समझौते के आधार पर इन पत्रों के संचालक यह तय करलें कि इनमें से एक पत्र वेद विषयक रचनाओं को प्रधानता देगा, दूसरा आर्यसमाज के दर्शनिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करेंगा। तीसरा थार्यसमाज के सिद्धान्तों का प्रौड़ प्रतिपादन अपना लक्ष्य बनायगा और चौथा आर्यसमाज के ऊपरं किए जाने वाले आक्षेपों का समाधान करेगा तथा खण्डन-मण्डन की विचारधारा का उद्घोषक होगा। प्रत्योक पत्र में वेद, सिद्धान्त, नारी जागरण, बाल सदन जैसे अलग-अलग स्तम्भ हों।

(५) आर्यसमाज के पत्रों में नियमितरूप से लिखने वाले लेखकों को संगठित किया जाए तथा उनकी प्रतिभा का पूर्ण उपयोग किया जाए।

आर्यसमाज में आर्यमित्र जैसे प्राचीन पत्र भी हैं जो हिन्दी के सर्वाधिक प्राचीन पत्रों में परिगणित होते हैं। डा० हरिशंकर शर्मा, रुद्रदत्त सम्पादकाचार्य, लक्ष्मीधर वाजपेयी, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी जैसे लब्ध प्रतिष्ठित पत्रकारों का वरहस्त इस पत्र पर रहा है, आदर्श आर्य पत्र के रूप में ऐसे पत्रों का विकास किया जाना चाहिए। आर्यसमाज के पत्रों से तो कहीं अधिक अच्छी दशा वैदिक धर्म, 'विश्वज्योति' 'सविता' आदि पत्रों की है जिनके संचालक किन्हीं कारणों से आर्यसमाज के क्षेत्र से पृथक हो गए हैं। इसका एक कारण यही प्रतीत होता है कि आर्यसमाज में परस्पर की फूट, द्रोह तथा बैरभाव की दूषित प्रवृत्ति किसी रचनात्मक प्रवृत्ति को पनपने नहीं देती।

अध्याय—१७

आर्यसमाज के पुस्तकालय

आर्य समाज के प्रवर्त्तक महर्षि दयानन्द ने अपनी इस संस्णा को बौद्धिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया। वे चाहते थे कि आर्य समाज का प्रत्येक सभासद उच्चकोटि का बौद्धिक व्यक्ति हो जो शास्त्रीय पठन-पाठन में पूर्ण रुचि लेता हो। इसीलिए उन्होंने आर्यसमाज के मूलाधार वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म बतलाया। इसी दृष्टि से उन्होंने आर्यसमाज के विधान में एक पुस्तकाध्यक्ष की भी व्यवस्था की जो प्रत्येक आर्य समाज में पुस्तकालय की व्यवस्था को तथा पुस्तकों के विक्रय विभाग को सुचारु रूप से संचालन करे। आर्य समाज की पुरानी पीढ़ी के लोग अत्यधिक स्वाध्याय शील और शास्त्रीय अध्ययन में रुचि लेने वाले व्यक्ति थे। आर्य समाज के अतिरिक्त शायद ही किसी सामाजिक धार्मिक या राजनैतिक संस्था में पुस्तकाध्यक्ष जैसे पद की व्यवस्था हो।

परन्तु कालान्तम में हम देखते हैं कि आर्य समाज के चुनावों में पुस्तकाध्यक्ष का पद महत्वहीन हो गया। दलबन्दी की स्थिति में अपने दल के किसी व्यक्ति को अन्तरंग में लेने के लिए उसे पुस्तकाध्यक्ष का पद दिया जाने लगा, बिना इस बात का विचार किए कि जिस व्यक्ति को पुस्तकाध्यक्ष बनाया जा रहा है वह स्वयं भी अध्ययन और स्वाध्याय में रुचि रखता है या नहीं। पुस्तकाध्यक्ष के पद का तुलना में कम हो गया। न केवल आर्य समाज के विधान में अपितु प्रान्तीय और सार्वदेशिक सभा के विधान में भी पुस्तकाध्यक्ष के चुनाव की व्यवस्था है। प्रान्तीय सभाओं के पुस्तकालय कुछ प्रांतों में हैं। मैं अपने प्रान्त की बात कहूँ। राजस्थान प्रान्तीय प्रतिनिधि

सभा का अपना कोई पुस्तकालय नहीं है और न इस सभा में पुस्तकाध्यक्ष जैसा कोई पद ही है। सार्वदेशिक सभा का अपना विशाल पुस्तकालय है।

आर्यसमाजों के पुस्तकालय भी सर्वत्र उपेक्षित दशा में पड़े रहते हैं। कई पुस्तकालयों में पुराने महत्व से पूर्ण ग्रन्थों का संग्रह है, परंतु समाजों के अधिकारी इन ग्रन्थों के महत्व से पूर्णतया अनभिज्ञ हैं। अधिकाँश आर्य समाजियों की स्वाध्याय रुचि समाप्त हो गई है अत: वे कभी पुस्तकालय से पठनार्थ पुस्तकें नहीं ले जाते। परिणाम यह होता है कि पुस्तकें आलमारियों में पड़ी २ कीड़ों का शिकार होती हैं औरउन पर धूल की तहें जम जाती हैं। पुस्तकाध्यक्ष अपना कार्य-भार स्वीकार करते समय चाबियों का गुच्छा तो थाम लेते हैं, पुन: वर्ष भर तक कभी पुस्तकों की ओर दृष्टि उठा कर भी नहीं देखते। अत: आवश्यक है कि आर्य समाज में पुस्तकालय आन्दोलत को पुनर्गठित किया जाय और पुस्तकाध्यश्र के पद के महत्व स्वीकार किया जाय। कुछ रचनात्मक सुझाव यहां दिए जा रहे हैं।

(१) सार्वदेशिक सभा के केन्द्रीय पुस्तकालय का पुनर्गठन किया जाय। उसमें वेदादि प्राचीन शास्त्र, धर्म, दर्शन, तुलनात्मक धर्म, तत्वज्ञान जैसे विषयों पर प्रभूत मात्रा में पुस्तकें एकत्रित की जायें। विदेशी भाषाओं प्रकाशित एतद् विषयक सम्पूर्ण साहित्य इसमें उपलब्ध हो। चेष्टा यह की जाय कि आर्यसमाज का यह केन्द्रीय पुस्तकालय अनुसंधान के छात्रों के लिए पूर्ण उपयोगी बन सके। सार्वदेशिक सभा का पुस्तकाध्यक्ष पद एक योग्य विद्वान् को दिया जाय जो स्वयम् अध्ययनशील मनोवृत्ति का हो तथा जो स्वयम् दिल्ली में रह कर पुस्तकालय का सुचारु रूप से संचालन कर सके।

(२) प्रान्तीय सभाओं के मुख्य कार्यालयों में भी बृहत् पुस्तकालबों की स्थापना की जाय। प्रान्तीय सभाणें अपने बजट में इस पुस्तकालय के लिए एक पृथक् धनराशि रक्खें।

(३) गुरुकुल कांगड़ी का पुस्तकालय पर्याप्त विशाल और अनु-

संधान के विद्वानों की आकांक्षाओं की पूर्ति करने वाला है। इसी प्रकार के विशाल पुस्तकाकय अन्यान्य गुरुकुलों में स्थापित किए जायें, साथ ही वहां यह भी व्यवस्था रहे कि अनुसंधानार्थ आने वाले व्यक्ति पर्याप्त काल तक इन गुरुकुलों में ठहर कर अपने अध्ययन को पूर्ण बना सकें। इस सम्बन्ध में आर्य समाज के सर्वसर्वाओं को काशी नागरी प्रचारिणी सभा के 'आर्यभाषा पुस्तकालय' का आदर्श अपनाना चाहिए।

(४) आर्यसमाजों के स्थानीय पुस्तकालयों की दशा को सुधारा जाय। पुस्तकाध्यक्ष का पद उसी व्यक्ति को दिया जाय जो वस्तुतः स्वाध्यायशील तथा अध्ययन प्रिय हो तथा पुस्तकालय के लिए समय दे सके।अपने दल के आदमी की भर्ती की दृष्टि से इस पद का दुरुपयोग बन्द होना चाहिए।

(५) समाजें अपने वार्षिक बजट में पुस्तकालय के लिए एक अनुदान की व्यवस्था करें। प्रत्येक आर्यसमाज में वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण, दर्शन, स्मृति, दयानन्द साहित्य तो अनिवार्य रूप से रहे ही, साथ आर्यसमाज के नवीनतम प्रकाशन भी वहां होने चाहिएं। यदि भारतव्यापी आर्यसमाजें प्रत्येक नवीन ग्रन्थ खरीदना अनिवार्य नियम बनालें तो इससे उनके पुस्तकालय भी समृद्ध हो जाएंगे तथा साथ ही नवीन प्रकाशित आर्य साहित्य की बिक्री का प्रश्न भी हल हो जाएगा।

(६) प्रत्येक पुस्तकालय के अन्तर्गत एक साहित्य बिक्री विभाग भी होंना चाहिए। इसमें जनता के विक्रयार्थ साहित्य रक्खा जाय। आर्यसमाजेतर व्यक्तियों को यह पता रहरा चाहिए आर्यसमाज के पुस्तकालय में अमुक प्रकार के ग्रन्थ बिक्री के लिए रहते हैं।

(७) आर्यसमाजों के सभासद अनिवार्य रूप से स्वाध्याय करें। उन्हें वर्ष भर के लिए अपने अध्ययन की प्रारूप बना लेना चाहिए। आर्यसमाजों में मंढ़ी व प्रधान के दायित्वपूर्ण पद उन्हें ही दिए जाएं जो स्वयम् स्वाध्यायशील हों तथा स्वाध्याय भावना का प्रसार करें।

(८) आर्यसमाजों के पुस्तकालय नियमित समय पर खुल तथा उनके खुलने के समय का पूर्ण परिज्ञान जनता को हो। आर्यसभाजेतर व्यक्तियों में आर्यसमाज के साहित्य के प्रचार के लिए समय-समय पर विशिष्ट कार्यक्रम रखे जाने चाहिए।

आर्यसमाज के अद्यतन रचित साहित्य की एक सम्पूर्ण सूची (Biblography) बननी चाहिए। प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक इस समय एक ऐसी बृहत् वाङ्मय सूची का निर्माण कर रहा है। जिसमें आर्यसमाज के इन १०० वर्षों में रचित सम्पूर्ण साहित्य को विषयानुसार वर्गीकृत किया गया है। ग्रन्थ नाम, लेखक, प्रकाशक तथा प्रकाशन तिथि देने का भी प्रयत्न किया गया है। आवश्यकता इस बात की है कि इस सूची के प्रकाशन के लिए कोई समाज या संस्था तैयार हो। यह सूची अपनी दृष्टि से अपूर्व होगी। आर्यसमाज के साहित्य के इतिहास को लिखने के लिए भी इन पंक्तियों का लेखक उत्सुक है, परन्तु प्रकाशक का अभाव ही मूल कठिनाई है।

अध्याय—१८

कर्मकाण्ड में असमानता

धर्म का बाह्यरूप कर्मकाण्ड होता है। 'न लिंग धर्म कारणम' मनु की यह उक्ति कि बाह्य चिन्ह धर्म के कारण नहीं होते, यद्यपि सही हैं, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि धर्म में कर्मकाण्डों का कोई महत्व नहीं। वैदिक धर्म कर्म, ज्ञान, और उपासना रूपी त्रिविध काण्डों के सामञ्यस्य पर जोर देता है। महर्षि दयानन्द ने मूर्तिपूजा तीर्थयात्रा, प्रतीकोपासना आदि जड़ और कुसंस्कारपूर्ण मध्यकालीन अन्ध विश्वासों को दूर कर उनके स्थान पर ईश्वरोपासना, अग्नि-होत्र, पञ्चमहायज्ञ जैसे उदात्त और मानवात्मा को परिष्कृत करने वाले आचरणों को प्रचलित किया। ऋषि दयानन्द ने 'यज्ञ' की पुरातन आर्ष परिपाटी को पुनः प्रचलित किया और उसका भौतिक तथा आध्यात्मिक निरूपण किया। उन्होंने यज्ञ' का विस्तृत अर्थ करते हुए परोपकार के समग्र लोक मंगलकारी कार्यों को 'यज्ञ' में समाविष्ट किया। आर्यसमाज भी अपने जन्म काल से ही आर्योचित संध्या, यज्ञ, उपासना, पञ्चमहायज्ञ आदि कर्मकांडों का प्रचार करता रहा है। स्वामी दयानन्द ने पंचमहायज्ञ विधि का निर्माण कर एक प्रशस्त दैनन्दिन कर्तव्यों की विधि आर्यों को प्रदान की।

यह सब कुछ होने पर भी हम देखते हैं कि आर्यों के कर्मकाण्ड में समानत का अभाव है। हिन्दू जाति के संगठन के लिए जो महान प्रयत्न स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज द्वारा किए गए थे उस संग-ठन के लिए अपनाए जाने वाले साधनों में एक साधन यह भी था कि आर्य जाति सामुहिक उपासना विधि एक ही हो। स्वामी दयानन्द का यह दृढ़ विश्वास था कि जब तक आर्यो में एक धर्म, एक ईश्वर, एक सी पूजा प्रणाली, एक भाषा तथा एक ही धर्म

शास्त्र के प्रति आस्था उत्पन्न नहीं होगी तब तक वे असंगठित ही रहेंगे तथा विधर्मियों के द्वारा त्रस्त, दलित और अपमानित होते रहेंगे। आर्यसमाज ने संध्या, यज्ञ, आदि की एक सी विधि आर्यों में प्रचलित की, परन्तु शोक के साथ लिखना पड़ता है कि अपने प्रमाद, आलस्य, ऐक्यता के अभाव, हठ तथा दुराग्रह की वृत्ति के कारण आर्यों का कर्मकाण्ड आज विश्रृंखलित हो रहा है। न तो आर्यों में अपने कर्मकाण्ड के प्रति कोई आस्था ही शेष रह गई है और न वे उसका दृढ़तापूर्वक पालन ही करते हैं। कर्मकाण्ड के प्रति यह उदासीनता निश्चय ही घातक है।

आर्यसमाज की संध्या विधि के विषय में सनातनी क्षेत्रों में यह प्रवाद प्रचलित है कि आवश्यक शुचिता तथा पवित्र वातावरण के अभाव में भी आर्यों की संध्या, जिसे वे व्यंग में 'बाबू वर्ग की संध्या' कहते हैं, की जा सकती है। जूते, मोजे पहने, कुर्सी पर बैठकर भी यदि 'शन्नोदेवी' आदि मन्त्रों का जप कर लिया जाए तो क्या संध्या कृत्य समाप्त हो गया? यही कारण है कि आज आर्यसमाज की संध्या विधि के विधान और आचरण में अनेक प्रकार की असंगतियाँ उत्पन्न हो गई हैं। जहाँ तक दैनिक या नैमित्तिक अग्नहोत्र का सम्बन्ध है, उसका विधि विधान भी इसी प्रकार अनुत्तरदायी ढंग से पूरा किया जाता है। बाजारू पुस्तक विक्रेताओं तथा अनेक अहम्मान्यपूर्ण पण्डित लोगों ने संध्या तथा अग्निहोत्र की विधि में मनमाने परिवर्तन कर डाले हैं। समिधाधान के चार मन्त्रों में क्रम यह है कि 'अयन्त इध्म आत्मा' इस मन्त्र से प्रथम समिधा, 'समिधाग्नि' तथा 'सुसमिद्धाय' इन दो मन्त्रों के द्वारा द्वितीय समिधा डाली जाए। यहाँ द्वितीय मंत्र के अन्त में आने वाला पाठ 'स्वाहा इदमग्नये इदं न मम' अधिकांश में तो बोला ही नहीं जाता, किन्हीं किन्हीं पुस्तकों में तो यह पाठ ही उड़ा दिया गया है। इसी प्रकार संध्या के अन्त में 'हे ईश्वर दयानिधे' आदि सतर्पणसूचक गद्य वाक्य की वर्षों तक अवहेलना होती रही, अब भी कई आर्यों को यह याद

नहीं है। यज्ञान्त में 'वसोपवित्रमसि' मन्त्र से शेष घृत को यज्ञकुण्ड में छोड़रा, 'इंद न मम' बोलकर श्रुवा में बचे घृत शेष को जलपात्र में डालना आदि क्रियायें सामान्य यज्ञ में दयानन्द प्रोक्त न होने पर भी बड़े २ विद्वानों द्वारा कराई जाती हैं। यद्यपि धर्मार्य सभा ने यज्ञ और संध्या विषयक आज्ञायें प्रकाशित कर रखी हैं, परन्तु उनका पालन कहीं होता नहीं दीखता। उत्सवों के अवसर पर भी उपदेशक लोग इन त्रुटियों तथा असमानताओं की ओर आर्य जनता का ध्यान न तो आकृष्ट ही करते हैं और न इसकी आवश्यकता ही समझते हैं। शायद अधिकांश उपदेशक तो कर्मकाण्ड विषयक सूक्ष्म बातों को समझते भी नहीं। यही कारण है कि विभिन्न समाजों में विभिन्न प्रकार की प्रणालियाँ प्रचलित दिखाई देती हैं।

यहां मैं आचार्य विश्वश्रवाजी का धन्यवाद पूर्वक उल्लेख अवश्य करूंगा। उनकी यह हार्दिक अभिलाषा रहती है कि आर्यसमाज में व्याप्त कर्मकाण्ड विषयक मेंसमानतायें दूर हो जायें। वे स्वयं इसके लिए यथासाध्य प्रयत्न भी करते हैं और यत्र-तत्र आवश्यक निर्देश भी देते हैं। कर्मकाण्ड की विषमता वृहद यज्ञों के अनुष्ठानों में भी देखी जाती है। आर्यसमाज ने अभी तक न तो पुरातन ब्राह्मणग्रन्थों तथा श्रौत् गृह्य आदि कल्प सूत्रों का विश्लेषणात्मक अध्ययन ही किया है और न यज्ञों की विशिष्ट पद्धतियों का निर्माण ही कर सका है। इसका फल यह हुआ कि धार्मिक जनता में व्याप्त यज्ञ यागादि के प्रति श्रद्धा का अनुचित लाभ उठाने वाले व्यक्ति गायत्री यज्ञ, तथा इसी प्रकार की अन्यान्य इष्टियों के बहाने आर्य जनता को प्रवंचित कर रहे हैं। श्रद्धा और विधि हीन इन यज्ञों का कोई शुभ-परिणाम नहीं हो सकता। मंत्रान्त में 'स्वाहा' लगाकर संस्कृत और वेद ज्ञान से शून्य 'महात्मा' वर्ग के लोग यज्ञों के ब्रह्मा बनकर आर्य जनता का शोषण कर रहे हैं। आर्य-कर्मकाण्ड के क्षेत्र में व्याप्त यह अराजकता अब दूर होनी चाहिए। फिर हम क्या करें ?

(१) संध्या यज्ञ आदि की पुस्तकें प्रकाशित करने का सार्वदे-

शिक सभा को एकाधिकार होना चाहिए और सभा के अधिकारी तथा उपदेशक दृढ़ता पूर्वक इन विधियों के आचरण में पाई जाने वाली विषमता को दूर करने का यत्न करें।

(२) उपदेशकों तथा पण्डितों का यह कर्तव्य है कि वे जहाँ २ भी जावें, वहाँ के आर्यों की कर्मकाण्ड की त्रुटियों का शोधन करें तथा उन्हें उचित निर्देश प्रदान करें।

(३) बृहत् यज्ञों की पद्धतियां प्राचीन कल्पशास्त्रों के आधार पर (उन्हे देशकालोचित परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्तित कर) तैयार की जावें। विशिष्ट यज्ञों का आयोजन आर्यसमाज के सर्वोच्च कर्मकाण्डधुरीणों की देख रेख में हो ताकि उसका उचित प्रभाव पड़ सके। ऐसा होने से ही मथुरा के गायत्री मण्डल द्वारा प्रचलित गायत्री के नाम पर होने वाले पाखण्डपूर्ण यज्ञों का उच्छेद हो सकेगा।

(४) प्रत्येक आर्य कर्मकाण्ड की गौरव, गरिमा तथा उसकी पूतता समझे, स्वदेशी वेशभूषा (धोती, कुर्ता, दुपट्टा) से सज्जित आर्य गण ही यज्ञ स्थल में उचित स्थान प्राप्त करने के अधिकारी हों। कर्मकाण्ड विषयक नियमों को विस्तारपूर्वक तैयार किया जाए तथा उनका अधिकाधिक प्रचार हो।

(५) आर्यसमाज का अधिकारी पद वे ही लोग ग्रहण करें जो संध्या अग्निहोत्र के नियमित उपासक हों, व्यर्थ ही डाक्टर जी या ठेकेदार जो को यह पद न दिये जायें जिनके लिए गायत्री मन्त्र भी अरबी फारसी है।

अध्याय १९

संस्कारों की दयनीय स्थिति

जब कर्मकाण्डों की बात चल ही पड़ी तो आर्य समाजी परिवारों में प्रचलिय षोड़श संस्कारों के विधान और उनकी स्थिति पर भी विचार कर लेना अनुपयुक्त न होगा। महर्षि दयानन्द ने मनुष्य के मन, आत्मा और शरीर की सर्वांगीण उन्नति की दृष्टि से षोड़श संस्कारों का होना प्रत्येक आर्य के लिये अनिवार्य बताया। विभिन्न गृह्यसूत्रों के आधार पर उन्होंने एक सर्वमान्य संस्कार विधि की रचना की जो आर्यों का प्रमुख गृह्य सूत्र कहला सकता है। महर्षि के जीवन से पता चलता है कि अपने जीवन काल में वे संस्कारों के महत्व पर जोर देते थे। सन्होंने अपने हाथों सैकड़ों व्यक्तियों को यज्ञोपवीत देकर गायत्री मंत्र का उपदेश दिया। अपने प्रवर्तक के आदेश को मान कर आर्यसमाज ने भी संस्कारों के प्रचार का बीड़ा उठाया परन्तु देखा यह जाता है कि आज कल आर्यसकाज में प्रचलित संस्कार गीता की 'मंत्रहीनं क्रिया हीनं विधि हीनं अदक्षिणम्' इस उक्ति को पूर्णतया चरितार्थ करते हैं। कारण यह है कि सर्व साधारण और आर्य जनता में भी यह भ्रान्ति फैल गई है कि आर्य समाजी विधि से कराये जाने वाले संस्कार सबसे सस्ते और सुगम होते हैं। फलतः आर्य पुरोहितों को आहूत किया जाता है और जैसे तैसे संस्कार का आडम्बर पूरा कर लिया जाता है।

संस्कारविधि वर्णित १६ संस्कार तो शायद ही किसी आर्य परिवार में सम्पूर्णतया किये जाते हैं। आज के कामवासना प्रधान युग में गर्भाधान संस्कार की तो चर्चा ही व्यर्थ है। पुंसवन, सीमन्तोन्नयन तथा जातकर्म जैसे संस्कार तों कभी शास्त्रोक्त विधि से मनाए ही नहीं जाते। हाँ, इन अवसरों पर किए जाने वाले रूढ़िगत

लौकिक कृत्य तो सभी परिवारों में यथापूर्व होते हैं। बाल्यकाल से सम्बन्धित नामकरण और चूड़ाकर्म अवश्य किए जाते हैं, परन्तु कर्ण-बेध और निष्कमण संस्कार नामशेष ही रह गए हैं। कभी २ कोई २ भूले भटके अन्नप्राशन भी करा लेता है। यज्ञोपवीत और वेदारम्भ संस्कार प्रथापालन के रूप में होते हैं। कई व्यक्ति तो अपने बालकों का यज्ञोपबीत विवाह के अवसर पर ही कराते हैं। पुनः शास्त्रा-ध्ययन और उसके उपरान्त समावर्तन का तो प्रश्न ही नहीं उठता। विवाह संस्कार अवश्य होते हैं। वानप्रस्थ संस्कार दीक्षित होने वाले व्यक्ति वनस्थ होने की अपेक्षा अपनी गृस्थी को भी पूर्णतया नहीं त्यागते और सन्यास लेने वाले भी लोकैषणा, वित्तैषणा, तथा पुत्रैषणा को त्याग कर सर्वजन मैत्री और लोक मंगल के लिए अपने को उत्सर्ग नहीं करते। यह है संक्षेप में १६ संस्कारों का लेखा जोखा।

जो संस्कार जैसे तैसे किए भी जाते हैं वे भी संस्कारविधि प्रोक्त पद्धति का पूर्णतया अनुसरण करते हुए नहीं किए जाते। कारण यह है कि आर्यसमाज में न तो पौरोहित्य कर्म का कोई शिक्षण ही होता है और न गृह्यकर्म के ज्ञाता कर्मकाण्डी विद्वानों को प्रामाणिक रूप से संस्कार सम्पन्न कराने के लिए समाजों या सभाओं से विधि-वत नियुक्त ही किया जाता है। परिणाम यह होता है कि समाज का निरक्षर या अल्प शिक्षित मन्त्री तथा कर्मचारी तक संस्कारविधि की पोथी को बगल में दबा कर संस्कार निष्णात पण्डित बन बैठता है। मैंने एक नामकरण संस्कार में देखा कि एक समाज के मन्त्री महोदय जो 'यस्मिनदेशे द्रुमोनास्ति' वाली उक्ति को चरितार्थ कराते हुए पुरोहित का कर्म सम्पादन करते थे, नामकरण के संस्कार में विशिष्ट रूप से तिथि, नक्षत्र तथा उनके देवताओं के नाम पर दी जाने वाली आहुतियों की अनावश्यकता पर बड़े जोर शोर से तकरीर करने लगे। यही महाशय विवाह के संस्कार में राष्ट्रभृत, जया, अभ्यातन आदि विशिष्ट होमों के मन्त्रों को न पढ़कर सामान्य यज्ञ के मन्त्रों से ही विवाह करा देते हैं।

वस्तुत: आज कितने संस्कार सम्पन्न होते हैं जिनमें ऋषि दयानन्द निर्दिष्ट पद्धति का पूर्णतया पालन होता है। श्री महाराज ने लिखा है कि संस्कार के प्रारम्भ में एक विद्वान् और बुद्धिमान पुरुष उच्च स्वर से ईश्वर प्रार्थना के मन्त्रों का पाठ करे और शेष उपस्थित लोग ध्यानस्थ होकर उसे सुनें। परन्तु होता क्या है? सभी लोग उच्चस्वर से 'विश्वानिदेव' आदि का पाठ करते हैं। यज्ञोपवीत में न तो वर्णोचित आयु में ही बालक का उपनयन कराया जाता है और न उसे सस्कार से पूर्व दूध पर उपवास कराया जाता है। आजकल के लड़के तो क्षौर कराना भी फैशन के प्रतिकूल समझते हैं। इसी प्रकार विवाह की सारी विधि रात्रि को ही सम्पन्न होती है अत: सूर्यदर्शन आदि का तो प्रश्न ही नहीं उठता। शायद ही कोई आय गृहस्थ हो जिनके परिवार में महर्षि दयानन्द प्रोक्त विधि से सम्पूण सस्कार सम्पन्न होते हों। संस्कार में क्रिया का ही महत्व विशेष बताया गया है, परन्तु आर्य पण्डितों में यह खब्त होता है कि वे व्याख्यान देने का कोई अवसर हाथ से नहीं जाने देते। फलत: किसी भा संस्कार की समाप्ति के पश्चात् अनावश्यक, अप्रासंगिक और ऊलजलूल बातें व्याख्यान के रूप में कही जाने लगती हैं। मुझे स्मरण है कि एक तथाकथित संस्कारकर्ता गृह प्रवेश के पश्चात् अपने व्याख्यान में हनुमान जी को जैसलमेर का भाटी राजपूत सिद्ध करने लगे पता नहीं नूतन गृह प्रवेश और "हनुमान जी बन्दर थे या क्षत्रिय" इसका क्या सम्बन्ध और तारतम्य था।

संस्कार सम्पन्न कराने से पूर्व संस्कार विधि में वर्णित संस्कारोपयुक्त सभी सामग्री को एकत्रित करना तथा उसका शोधन करना आवश्यक है। होता यह है कि न तो संस्कारकर्त्ता पुरोहितगण ही सामग्री विषयक आवश्यक निर्देश तजमानों को देते हैं और न यजमान ही इस विषय में सावधान होते हैं। विशेषतया विवाह संस्कार में तो खूब लापरवाही बरती जाती है। बिजली, बाजा तथा अन्य प्रकार की भिजूलखर्चियों पर खूब पैसा बहाया जाता है परन्तु यज्ञ

विषयक सामग्री में नितान्त दरिद्रता प्रदर्शित की जाती है। सामान्य गृहस्थों की बात छोड़िये, मैंने एक आर्य महोपदेशक के नाती का मुण्डन संस्कार सम्पन्न कराया। जो व्यक्ति स्वयं अपने जीवनकाल में सैंकड़ों संस्कार सम्पन्न करा चुका हो उसको सामग्री संचय विषयक निर्देश देने की मैंने आवश्यकता नहीं समझी। परन्तु समय पर देखते हैं कि न तो पर्याप्त मात्रा में घृत ही और न सामग्री। यज्ञ कुण्ड भी वही है जिसमें दैनिक अग्निहोत्र किया जाता था। अग्नि प्रज्वलन के लिये कपूर ही नदारद। बड़ी मुश्किल से धूमायित वातावरण में अग्नि प्रज्वलित हो सकी। मुझे बड़ा खेद हुआ—जब महोपदेशकों के यहाँ संस्कार की यह दुरवस्था है, तब सामान्य आर्य गृहों में संस्कारों के पूर्ण विधि विधान की कौन परवाह करेगा?

अतः आवश्यक है कि संस्कार विषयक निम्न निर्देशों का पालन हो—

(१) संस्कार कराने से पूर्व पुरोहित तथा अन्य ऋत्विजों का वरण हो। वे ही लोग संस्कार कृत्य सम्पन्न करायें। बीच बीच में अनावश्यक हस्तक्षेप कोई न करें।

(२) संस्कारोचित सम्पूर्ण साधन पहले ही जुटा लिये जायें तथा उन्हें स्वयं पुरोहित भली प्रकार देखले, ताकि बीच में गड़बड़ न हो।

(३) संस्कार विधि के पूर्णतया अनुकूल कार्य हो। कोई Detali छूटना नहीं चाहिये और न अपने मन से ही कोई नवीन विधि मिश्रित की जानी चाहिए।

(४) प्रत्येक संस्कार का उल्लेख आर्यसमाज के रजिस्टर में रहना चाहिए।

(५) संस्कार की समाप्ति पर अनावश्यक व्याख्यान न हो। यदि आवश्यक समझाजाय तो सौम्य भाषा में संस्कार का महत्व संक्षिप्तरूप से समझाया जा सकता है।

(६) संस्कारकर्ता पुरोहित और ऋत्विजों को दान दक्षिणा उसी समय दी जाय। इसे भविष्य के लिए न टाला जाय।

अध्याय २०

आर्य कुमार सभायें और आर्य वीर दल

किसी भी संगठन में युवक शक्ति का बड़ा महत्व होता है। हम देखते हैं कि भारत के राजनैतिक तथा सामाजिक एवं सांस्कृतिक दलों को ओज तेज एवं बल से युक्त करने में उनके सहयोगी युवक संगठनों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। कांग्रेस के पीछे कांग्रेस सेवा दल और युवक कांग्रेस हैं। कम्युनिस्टों को स्टूडेन्ट फैडरेशन से बहुत बड़ी सहायता मिली है। मुस्लिम स्टूडेन्ट्स फैडरेशन ने मुस्लिम-लीगी विचारधारा को फैलाने में तथा सिख स्टूडेन्ट्स फैडरेशन ने अकाली राजनीति को व्यापक बताने के किस प्रकार योगदान दिया था, यह भी भुलाने की वस्तु नहीं है। आर्यसमाज के भूतकालीन नेता भी इस बात के महत्व को जानते थे कि आर्यसमाज में युवक शक्ति का प्रवेश किस प्रकार हो सकता है तथा उन्हें आर्य विचार-धारा के प्रचार और प्रसार में किस प्रकार नियोजित किया जा सकता है। लाहौर आर्यसमाज के प्रथम प्रधान लाला सांईदास सदैव इस बात का यत्न करते थे कि होनहार युवक आर्यसमाज में आएँ। महात्मा हंसराज, लाला लाजपतराय और महात्मा मुन्शीराम के आर्यसमाज की सदस्यता ग्रहण करने पर वृद्ध लाला सांईदास भाव विभोर हो उठे थे। वे आज के जीर्ण, शीर्ण मुमुर्ष आर्यनेताओं की तरह युवक वर्ग को आगे बढ़ता देखकर कुढ़ने वाले और सारी सत्ता को मरते दम तक अपने ही हाथों में रखने वाले नहीं थे।

आर्य युवकों के लिये आर्यकुमार आन्दोलन की नीव स्व० डॉ० केशवदेव शास्त्री ने डाली। स्व० महात्मा हंसराज, लाला लाजपत राय तथा स्वामी श्रद्धानन्द जैसे मूर्धन्य आर्य नेताओं ने आर्यकुमार परिषद् की अध्यक्षता समय समय पर ग्रहण की तथा युवक वर्ग का मार्गदर्शन किया। दिल्ली स्व० नेता लाला देशबन्धु गुप्त, डॉ० युद्धवीरसिंह यहां तक कि बैरिस्टर आसफअली जैसे मुस्लिम नेताओं का भी आर्यकुमार सभाओं से निकट का सम्बन्ध रहा है। कुछ वर्ष पूर्व तक भारतवर्षीय आर्य कुमार परिषद् का कुछ प्रान्तों में अच्छा

संगठन रहा, परन्तु धीरे २ हम देखते हैं कि ज्यों २ आर्यसमाज की जीवनी शक्ति का ह्रास होने लगा त्यों त्यों युवक वर्ग आर्यसमाज से दूर होता गया और आज तो आर्यसमाज के पास युवक संगठन जैसी कोई वस्तु नहीं है। आर्यकुमार सभाओं ने बाल विवाह निरोध, नशा निरोध, धर्म शिक्षा प्रचार जैसे रचनात्मक कार्यक्रमों में बड़ा योगदान किया है। आर्य कुमार परिषद् द्वारा संचालित धार्मिक परीक्षायें डॉ० सूर्यदेव शर्मा (अजमेर) तथा प्रिन्सिपल जगदीश प्रसाद अग्रवाल (मुरादाबाद) के परीक्षा मंत्रित्व काल में बड़े स्तर पर युवक और कुमार वर्ग में धार्मिक ग्रन्थों के पठन पाठन तथा परीक्षाओं के माध्यम से वैदिक धर्म का प्रचार करती रही। परन्तु सर्वग्रासिनी फूट के कारण आज न तो कुमार परिषद् का ही कोई अस्तित्व शेष रहा है और न उसका अखिल भारतीय स्तर वाला परीक्षा पटल ही जीवित है। सुना है कि परीक्षाओं के व्यवस्था सम्बन्धी आन्तरिक झगड़ों को न निपटा सकने की स्थिति में परिषद् के कार्यकर्त्ताओं को न्यायालय तक जाना पड़ा था। दिल्ली में आर्य कुमार व युवक आन्दोलन के स्तम्भ स्व० देवीदयाल जी तथा पं० देवव्रत धर्मेन्दु रहे। पंजाब में अब भी प्रो० वेदीराम शर्मा, प्रो० राजेन्द्र जिज्ञासु तथा कुछ अन्य युवक कार्यकर्ताओं ने आर्य कुमार परिषद् को नामशेष होने से बचा रखा है।

आर्य वीर दल की अवस्था

कुमार परिषद् के तुल्य ही है। शायद आर्यवीर दल का संगठन आर्य युवक शक्ति को संगठित करने की दृष्टि से किया गया था। अज्ञान, अन्याय और अभाव को दूर करने का महत् उद्देश्य लेकर जिस आर्य वीर दल की स्थापना की गई वह क्यों असफल रहा, यह एक विचारणीय प्रश्न है। शायद आर्यसमाज के नेताओं ने सत्ता और पदलोलुपता की तुलना में ठोस रचनात्मक सेवा कार्य को कभी महत्व नहीं दिया और यही कारण है कि अखिल भारतीय आर्य वीर दल भी आज अपने अखिल भारतीय रूप को खोकर अपने कार्यालय तक ही सीमित रह गया है। आज तो स्थिति यह है कि

आर्य वीर दल तथा आर्य कुमार सभायें तो समाजों से समाप्त हो गई हैं।

यह तो है वस्तुस्थिति का दिग्दर्शन। अब कुछ रचनात्मक सुझाव—(१) सुप्त और मृत कुमार सभा तथा आर्य वीर दल आन्दोलन को तीव्र शक्ति से संगठित किया जाय। बूढ़े आर्य नेता नवयुवकों के लिए स्थान रिक्त करने में गौरव समझें अन्यथा वर्तमान पीढ़ी की समाप्ति के साथ साथ आर्यसमाज भी समाप्त हो हो जायगा।

(२) युवकों को आकृष्ट करने के यिए आर्यसमाजों के उत्सवों के साथ साथ कुमार सम्मेलन हों, जिसमें निबन्ध वादविवाद आदि की प्रतियोगितायें आयोंजित की जाएँ।

(३) धार्मिक परीक्षाओं का पुनर्गठन हो। प्रत्येक समाज में अनिवार्यत: उनके केन्द्र स्थापित किए जाएं। आर्यसमाजी शिक्षण संस्थाओं के छात्रों में इन परीक्षाओं का प्रचार आसानी से हो सकता है। यदि विदेशी ईसाई प्रचारक "वाइस आफ प्रोफेसी" जैसी परीक्षाओं द्वारा यदि बाइबिल को भारत व्यापी Publicity दे सकते हैं तो कोई कारण नहीं कि आर्य युवक वेदों को विश्व के कोने कोने में न फैला सकें।

(४) युवक वर्ग को आर्य सिद्धान्तों से परिचित कराने के लिए उच्च कोटि का सैद्धान्तिक और दार्शनिक साहित्य हिन्दी और अंग्रेजी भाषाओं में तैयार किया जाय। इस सम्बन्ध में हम रामकृष्ण मिशन के सात्विक और पौष्टिक साहित्य से प्रेरणा कर सकते हैं।

(५) बाढ़, दुर्भिक्ष, महामारी जैसे आपतकालीन प्रसंगों में आर्य सेवा दल के कार्य को बढ़ाया जाय। अतीत में आर्यसमाज को जो देशव्यापी सम्मान और कीर्ति मिली उसका एक कारण उसका सेवा कार्य भी था।

(६) आर्यसमाज के सभी विचारशील विद्वान्, नेता और कार्यकर्ता एक साथ मिलकर इस प्रश्न पर विचार करें कि आर्यसमाज में युवक वर्ग को लाने के लिए क्या २ ठोस उपाय क्रियान्वित किए जा सकते हैं। तदनुकूल कार्य हो।

अध्याय — २१

दक्षिण भारत में-आर्यसमाज के प्रचार की समस्या

आर्य समाज जिस धर्म का प्रतिपादन करता है वह सार्वभौम, सार्वकालिक और सार्वजनीन है। आर्यसमाज के मुख्य ध्येय का उल्लेख करते हुए छठे नियम में कहा गया है कि संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर आर्यसमाज के प्रर्वतक ने अपनी शिक्षाओं और मन्तव्यों को सार्वदेशिक रूप प्रदान किया, जिनसे लाभ उठाकर मनुष्यमात्र अपना हितसाधन कर सकता है। आर्यसमाज के दिवंगत नेताओं ने भी महर्षि दयानन्द के सिद्धांतों को विश्वव्यापक बनाने की चेष्टा की। उत्तर भारत में आर्यसमाज का लोकव्यापी प्रचार एक ऐतिहासिक तथ्य बन गया है परन्तु अभी उसे सार्वभौम स्वरूप दिया जाना शेष है। विश्व के कौने २ में वैदिक संदेश फैलाना तथा 'कृण्वन्तो विश्व-मार्यम्' की घोषणा का ध्येय अभी अपूर्ण ही है। आर्यसमाज के भज-नीक एक समय आदर्शवादिता के फेर में पड़कर यह गाया करते थे। कि "आएंगे खत अरब से, गुरुकुल का ब्रह्मचारी हलचल मचा रहा है" यह सब कथन अब दिवास्वप्न के तुल्य ही प्रतीत होने लगा है। वस्तुत: आज उत्तर भारत के भी पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश तथा बिहार इन राज्यों में ही आर्यसमाज का प्रचार और प्रभाब कुछ सीमा तक ही संतोषजनक कहा जा सकता है। महाराष्ट्र, गुजरात, बंगाल तथा आसाम में तो आर्यसमाज का परिचय और प्रभाव नगण्य सा ही है। तमिलनाडु, केरल, कर्नाटक आन्ध्रआदि द्रविड़ भाषा-भाषी प्रान्त तो अभी आर्यसमाज से सर्वथा अप्रभावित ही हैं।

सर्व प्रथम स्वामी नित्यानन्द और स्वामी श्रद्धानन्द का ध्यान दक्षिण भारत में आर्यसमाज के प्रचार की ओर गया। स्वामी श्रद्धा-

न्द ने गुरुकुल कांगड़ी के पं० धर्मदेव जी विद्यावास्पति तथा कतिपय अन्य स्नातकों को दक्षिण में वैदिक धर्म के प्रचारार्थ भेजा। इन प्रचारकों ने बंगलौर, केरल, मद्रास आदि स्थानों को अपना केन्द्र बनाकर महत्पूर्ण प्रचार कार्य किया। स्थानीय भाषाओं में साहित्य लेखन तथा उन भाषाओं के माध्यम से ही व्याख्यान आदि देकर आर्यसमाज को जनव्यापी बनाने की चेष्टा की गई। मालाबार में भोपला विद्रोह के समय महात्मा हंसराज जी के आदेश से महात्मा खुशहालचन्द (महात्मा आनन्द स्वामी) आदि प्रादेशिक सभा के कार्यकर्ता दक्षिण पहुंचे तथा त्रिवेन्द्रम में आर्यसमाज का केन्द्र स्थापित हुआ। धीरे २ आर्यसमाज का दक्षिण भारत से स्थापित यह क्षीण सम्बन्ध सूत्र भी टूट सा गया और अब तो स्थिति यह है कि आज दक्षिण भारत की नई, शिक्षित, युवा पीढ़ी आर्यसमाज और उसकी प्रवृत्तियों से सम्पूर्णतया अपरिचित है। यदि आर्यसमाज दक्षिण भारत में अपने प्रचार के क्रम को दुर्बल नहीं होने देता, यदि समय २ पर उत्तर भारत से आर्यसमाज प्रचारक दक्षिण में जाकर वैदिक धर्म का संदेश द्रविड़ भाषा-भाशी लोगों को सुनाते तो आज उत्तर और दक्षिण भारत के वीच अविश्वास तथा पार्थक्य भावना की जो एक क्षीण रेखा सी बन गई है वह नहीं बन पाती। कितने खेद की बात है कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करने वाला तथा इसके लिए प्रबल आन्दोलन करने वाला आर्यसमाज दक्षिण में हिन्दी प्रचार के लिए भी कोई सुदृढ़ और सबल आन्दोलन का संचालन नहीं कर सका। यह कार्य भी महात्मा गांधी ने हिन्दी प्रचार सभा के माध्यम से प्रारम्भ किया। परिणाम यह हुआ कि आर्यसमाज दक्षिण भारत के निवासियों के लिए एक अपरिचित सी वस्तु रह गई। यदि आर्यसमाज के प्रचार आन्दोलन की नींव दक्षिण में गहराई से जमी होती तो न तो मद्रास तथा केरल में मुस्लिम लीग के पुन: पनपने की ही कोई संभावना रहती और न इन प्रान्तों में ईसाइयों का ही प्रभुत्व बढ़ पाता। अस्तु।

अब भी समय है। आर्यसमाज को चाहिए कि दक्षिण भारत, उड़ीसा, बंगाल, आसाम तथा अन्य ऐसे प्रांतों में जहां अब तक आर्यसमाज का परिचय और प्रभाव नगण्य सा है अपने काय को अधिकाधिक व्यापक बनाए। कतिपय सुझाव यहां दिए जाते हैं।

(१) जिन २ प्रान्तों में अभी तक प्रतिनिधि सभाओं का संगठन नहीं हो सका है वहां सभाएं स्थापित की जाएं। यह कार्य उन प्रांतों में रहने वाले उत्तर भारतीयों के द्वारा ही हो सकेगा। धीरे धीरे अहिन्दी भाशी प्रांतों के लोगों को भी आर्यसमाज के सम्पर्क में लाने की चेष्टा की जाय। कितने खेद की बात है कि बंगाल में यद्यपि आधी शताब्दी से अधिक समय से आय प्रतिनिधि सभा बंग प्रदेश कार्य कम रही है, परन्तु बहुत कम बंगाली लोगों तक वह अपना संदेश पहुंचा पाई है, अधिकांश में बंगाल में प्रवासी उत्तर भारतीय, मारवाड़ी, पजाबी तथा बिहारी लोगों तक ही आयसमाज का प्रचार सीमित है। बंगाली आज भी शाक्त धर्म को अपना मत स्वीकार करते हैं और दुर्गापूजा उनका राष्ट्रीय त्यौहार बना हुआ है। शायद ही कोई घोष, बोस, चटर्जी, मुखजी आर्यसमाज का सदस्य हो।

(२) दक्षिण भारत में आर्यसमाज के प्रचार को जनव्यापी बनाने के लिए आर्यसमाज को विशेष उपदेशक प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना करनी होगी, जिनमें तमिल, तेलगु, कन्नड़ तथा मलयालम जैसी द्रविड़ भाषाओं के वक्ता और लेखक तैयार किए जाएंगे। जन भाषा ही धर्म प्रचार का सशक्त माध्यम बन सकती है। अब तक आर्यसमाज ने हिन्दी भाषी उपदेशक तो तैयार किए परंतु प्रान्तीय भाषाओं के द्वारा उपदेश करने वाले प्रचारकों की संख्या नगण्य है। यहां भी हमें ईसाई प्रंचारकों का उदाहरण समक्ष रखना होगा, जिन्होंने प्रान्तीय भाषाओं में अपना साहित्य लिख कर अपने धर्म का प्रचार किया।

(३) रामकृष्ण मिशन तथा ईसाई मिशन की भांति दक्षिण के प्रमुख स्थानों में सेवा केन्द्र की स्थापना की जाय। आज का मानव

धर्म के दार्शनिक जिज्ञासा के भाव से आकर्षित नहीं होता अपितु वह अभाव' अज्ञान पीड़ा से संत्रस्त होकर सेवाभावी कार्यकर्ताओं से प्रभावित होता है। यदि दयानन्द सेवा केन्द्रों के रूप में औषधालय, पुस्तकालय, औषधि वितरण केन्द्र तथा अन्य सहायता कार्यों को प्रोत्साहित किया गया तो निश्चय ही अहिन्दी प्रान्तों में आर्यसमाज अपना वर्चस्व स्थापित कर सकेगा।

(४) दक्षिण भारत में धार्मिक कट्टरता एवं संकीर्णता (Ortpo-doxy) उत्तर भारत की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़ी चढ़ी है। वहां के लोगों का बौद्धिक स्तर भी उत्तर भारतीयों की अपेक्षा अधिक उच्च माना जाता है। शंकर, रामानुज, मध्व और निम्बार्क जैसे दार्शनिक मुर्धन्यों को जन्म देने वाले प्रदेश आर्यसमाज के वर्तमान छिछले प्रचार स्तर से कदापि प्रभावित नहीं हो सकते। संस्कृत के अध्ययन, अध्यापन का केन्द्र आज भी महाराष्ट्र का पूना नगर बना हुआ है जहां भाण्डारकर रिसर्क इन्स्टीट्‌ट तथा अन्य कतिपक वैदिक शोध संस्थान श्लाघनीय कार्य कर रहे हैं। आर्यसमाज भी यदि अपनी विजय पताका इन प्रान्तों में लहराना चाहता है तो उसे उच्च कोटि का वैदिक और सैद्धांतिक साहित्य तैयार कर दक्षिण के पण्डित वर्ग के समक्ष प्रस्तुत करना होगा। उसे यह सिद्ध करना होगा कि आर्य-समाज केवल वेदों और दर्शनों का नाम ही नहीं लेता, अपितु वह इन शास्त्रों के गूढ़ रहस्यों को हृदयन्गम करने की क्षमता भी रखता है।

इन्ही साधनों को अपनाकर हम दक्षिण भारत में अपनी धार्मिक विजय यात्रा का प्रारम्भ कर सकते हैं।

अध्याय—२२

विदेश प्रचार की समस्या

महर्षि दयानन्द ने अपने स्वीकार पत्र में अपनी स्थानापन्न परोपकारिणी सभा को आदेश दिया था कि वह ऐसे साधन जुटाए जिस से देश देशान्तरों और द्वीप द्वीपान्तरों में वैदिक धर्म का प्रचार संभव हो सके। आर्यसमाज ने जिस वैदिक धर्म के प्रचार का बीड़ा उठाया वह किसी देश विशेष की सीमा तक ही प्रतिबन्धित नहीं था, वह मानव धर्म का पर्याय था, अतः आर्यसमाज के अतीतकालीन नेताओं का ध्यान भारतेतर देशों में आर्यसमाज के प्रचार और प्रसार की ओर गया। अफ्रीका, फिजी, मॉरिशस, गाइना, दक्षिण अमेरिका आदि अनेक देशों में प्रवासी भारतवासी कई वर्षों से रह रहे थे। सर्व प्रथम उन्हीं के बीच वैदिक धर्म के प्रचार की आवश्यकता अनुभव हुई। भारत से अनेक धर्मोपदेशक समय समय पर इन भारतीय उपनिवेशों में जाते रहे तथा इन भारतमूल के व्यक्तियों में स्वधर्म स्वभाषा, स्वसंस्कृति का प्रशंसनीय प्रचार करते रहे। भाई परमानंद मेहता जैमिनी, स्वामी शंकरानन्द, स्वामी भवानीदयाल संन्यासी जैसे प्रचारकों ने अफ्रीका तथा अन्य उपनिवेशों में सराहनीय कार्य किया। स्थान स्थान पर आर्यसमाज स्थापित किए गए, प्रतिनिधि सभाओं का संगठन हुआ, शिक्षण संस्थाएं स्थापित की गईं। आर्य समाजी प्रचारकों की देखा देखी सनातनधर्मी उपदेशक भी 'समुद्र यात्रा स्वीकारः' के कलिवर्ज्य को तिलाञ्जलि देकर विदेशों में अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिए निकले, वहाँ उनके आर्य विद्वानों से शास्त्रार्थ भी हुए। कहने का तात्पर्य यह है कि आर्यसमाज के क्रियात्मक जीवन का जो दृश्य कुछ वर्ष पूर्व भारत में प्रकट हुआ वही सम्पूर्ण यथार्थता के साथ दुहराया गया।

समय समय पर पं० बुद्धदेव विद्यालंकार, पं० बुद्धदेव मी:
स्वामी विदेह, स्व० देशभक्त चाँदकरण शारदा, स्वामी ध्रुवा
पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, स्वामी अभेदानन्द (जिनका मारिश
ही स्वर्गवास हो गया), ओमप्रकाश पुरुषार्थी, स्वामी अखिलानन्द
(भूतपूर्व श्रीं कालीचरण आर्य) आदि नेता और विद्वान भी विदे
प्रचारार्थ गये।

आर्यसमाज के विदेश प्रचार में निम्न न्यूनतायें दृष्टिगोचर होती हैं, जिनका निराकरण होना अत्यन्त आवश्यक है अन्यथा आर्यसमाज के 'कृण्वन्तोविश्वमार्यम्' से व्यक्त होने वाले आदर्श का कोई व्यावहारिक महत्व नहीं रहेगा।

(१) विदेशों में आर्यसमाज का प्रचार और उसकी गतिविधियां केवल उन पवासी भारतीयों तक ही सीमित रही जिनमें हिन्दू धर्म और संस्कृति के संस्कार शेष थे। उन बचे हुए आर्यत्व के संस्कारों को ही पल्लवित और पोषित करने की चेष्टा की गई। अन्य अफ्रीका वासी नीओ-हबसी लोगों, गौरवर्ण अंग्रेज, अमेरिकन, पीत जातियों (चीनी, जापानी, मंगोल) तथा अरब देशों के इस्लाम धर्म के अनुयायियों के बीच वैदिक धर्म पचार के लिए कोई कार्यक्रम नहीं बनाया गया।

(२) जिस प्रकार पशासन के भीतर परराष्ट्र मंत्रालय होता है उसी प्रकार सार्वदेशिक सभा के अन्तर्गत भी एक विदेश प्रचार विभाग हो जिसमें सूझ बूझ के लोग रहें तथा वे सम्पूर्ण विश्व में चलने वाली आर्यसामाजिक गतिविधियों का सर्वोच्च सूत्र अपने हाथ में रख कर प्रचारकों को आवश्यक निर्देश देते रहें।

(३) विदेश प्रचारक के रूप में केवल ऐसे व्यक्तियों का ही चयन किया जाय तो त्यागी, तपस्वी, कष्ट सहिष्णु तथा सच्ची लगन वाले चरित्रवान् लोग हों। विदेश में उनकी विद्वत्ता एवं योग्यता के साथ साथ उनके चरित्र और व्यक्तित्व की ओर भी लोगों का ध्यान जाना अवश्यम्भावी है।